

कुमारकर्त्तव्य



लेखक—

पाठक शमानन्द, उपदेशक
दयानिधि पाठक, एडवोकेट

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	१८	ख्वाब थी	ख्वा था
२१	२१	परोकार	परोपकार
३६	११	विशः	दिशः
»	११, १२, १५	प्राविशत्	प्राविशन्
४१	१५	पुष्ट	पुष्टि
४४	१	स्पर्शन	स्पर्श
४५	३	कीर्तिनं	कीर्तनं
»	५	माष्टङ्गं	मष्टाङ्गं
५८	१०	खेत	श्वेत
१०१	७	की जाती	को जाती
१०४	१	हीं	नहीं
१०६	६	फला भाग	फूला भाग
११६	१४	शुक क्षण	शुकक्षरण
१२६	५	विद्या	विद्यां
१६५	५	वर्षे	वर्षे
१८०	७	उन्नत शील	उन्नतिशील
२०६	२२	उहाहरण	उदाहरण
२१४	२	जनः	जनाः

नोट—इसके अतिरिक्त प्रेस में छपते समय मात्राओं के गिर जाने तथा अन्य ऐसे ही कारणों से पुस्तक में कुछ ऐसी भी अशुद्धियां रह गई हैं जो प्रकरण से जानी जा सकती हैं, वाचकवृन्द उन्हें पढ़ते समय शुद्ध कर लें ।

विनीत लेखक

* ओ३म् परमात्मने नमः *

कुमारकर्त्तव्य

अर्थात्

भारतवर्षीय कुमारों का कर्त्तव्यनिरूपण प्राचीन ऋषि
मुनियों के प्रमाणों और आधुनिक पाश्चात्य
विद्वानों की सम्मति सहित ।

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

सम्पादक और प्रकाशक-

श्रीमान् वैद्यशिरोमणि, सिद्धान्तविशारद, साहित्यशिरोमणि
पाठक शमानन्द उपदेशक

तथा

साहित्यरत्न परिडित दयानिधि पाठक एडवोकेट इटावा

पं० सरयूदयालु दीक्षित के प्रबन्ध से
मित्र प्रेस, इटावा में मुद्रित ।

तृतीय संस्करण	}	संवत् १९८७ वि० सन १९३१ ई०	{	मूल्य १॥)
२०००				

विषयसूची ।

विषय	पृष्ठ
१ प्रस्तावना...	१
२ द्वितीयावृत्ति की भूमिका...	५
३ तृतीय संस्करण की भूमिका...	८
४ विषयप्रवेश...	११
५ कुमारावस्था की महिमा...	१५
६ शारीरिकोन्नति...	२३
७ ब्रह्मचर्य...	३१
८ ब्रह्मचर्य का स्वरूप...	४३
९ व्यायाम और प्राणायाम...	६०
१० शरीरविज्ञान...	७७
११ मानसिक विकाश...	११७
१२ विद्या और गुरु सेवा...	१२८
१३ चरित्रसंगठन...	१३७
१४ जीवनसाफल्य के साधन...	१५४
१५ सदाचार और व्यावहारिक सभ्यता...	१८३
१६ समाजसेवा...	२०७
१७ भारतमहिमा और मातृभूमिसेवा...	२२१
१८ विशेष...	२३६
१९ उपसंहार...	२४६
२० सुमनचयन—अरोग्यता के नियम...	२४७
व्यावहारिक सभ्यता के नियम...	२५५
स्वप्नदोष...	२५६

प्रस्तावना ।

संसार बहुत से अंशों और बहुत सी बातों में कुमार ही है। साथ ही संसार का सारा भविष्य कुमारों पर ही निर्भर करता है। मनुष्य में जितनी शक्तियां होती हैं उन सब का विकास और उन्नति कुमारावस्था में ही होती है। इस अवस्था में उसके हृदय में जिन २ गुणों का बीजारोपण होता है वही गुण आगे चल कर उसके तथा साथ ही साथ बहुत से अंशों में समाज के चरित्रगठन में विशेष रूप से सहायक होते हैं। यही कारण है कि सब प्रकार की महत्वपूर्ण शिक्षाओं का आरम्भ कुमारों से ही होता है।

कुमारों में एक सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्य का आदर्श ठीक उसी प्रकार छिपा होता है जिस प्रकार संगमरमर के किसी टुकड़े में कोई सुन्दर मूर्ति छिपी होती है, कुमार रूपी इस टुकड़े में से सुन्दर मूर्ति निकालने के लिये शिक्षा मूर्तिकार का काम करती है, सत्सङ्गति इस मूर्ति बनाने के कार्य में टांकी का काम करती है, ब्रह्मचर्य से उस पर पालिश होती है और सदाचार मानो उसको सुसज्जित और प्रतिष्ठित करता है।

प्रस्तुत पुस्तक “कुमार कर्त्तव्य” उन्हीं कुमारों के लिये है जिन पर किसी एक देश का नहीं बल्कि सारे संसार का भविष्य निर्भर करता है और इसमें कुमारों के लिये सब से

अधिक आवश्यक ब्रह्मचर्य, सत्सङ्गति, सदाचार इन तीन बातों पर विशेष जोर दिया गया है ये तीनों ही बातें ऐसी हैं जिन्हें संसार स्वतः सिद्ध मानता है और जनका उपयोगिता अथवा उत्तमता प्रमाणित करने के लिये किसी विशेष प्रमाण अथवा प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती। यदि किसी बात की आवश्यकता है तो वह केवल उसका महत्व और लाभ बतलाने की न कि उसके उत्तम और उपयोगी होने का प्रमाण देने की, और इस पुस्तक में इन्हीं तीनों बातों का महत्व बतलाया गया है। और इसी महत्व बतलाने के कारण इस पुस्तक का भी महत्व है।

ब्रह्मचर्य एक ऐसा विषय है जिसका महत्व हमारे पुनीत भारतवर्ष में कुमारों को विद्यारम्भसंस्कार के समय ही बतला दिया जाता था और जिसकी रक्षा के लिये बहुत से नियम बना दिये गये थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहले कुमारों को ब्रह्मचर्य का पालन करना बहुत ही आवश्यक हुआ करता था। कुमारों को जो कुछ पढ़ाया जाता था उसका भी बहुत सा अंश ब्रह्मचर्य की महिमा ही था।

ब्रह्मचर्य के उपरान्त कुमारों के लिये दूसरी आवश्यक बात सत्सङ्गति है, बात यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरण-प्रिय है, प्रत्येक मनुष्य अपने संगी साथियों को जो कुछ करते देखता है स्वयं भी वही करने लग जाता है संगति और आचरण दोनों का ही प्रभाव इतना प्रबल होता है कि वह बिना दूसरेके चरित्र सङ्गठन में सहायक हुए रह ही नहीं सकता यह

प्रभाव प्रायः बिल्कुल अनजान में और अवश्यम्भावी हुआ करता है। इस कारण अनाचार और संसर्गदोषको एक प्रकार का भीषण विष मान सकते हैं जो समाज रूपी शरीर में प्रवेश करते ही भयंकर रूप से बढ़ने लगता है। यही कारण है कि अनेक विद्वान शिक्षा की अपेक्षा संगति और सदाचार का महत्व अधिक मानते हैं। सत्सङ्गति का शुभ परिणाम जीवन की सभी अवस्थाओं और सभी परिस्थितियों में होता है।

एक विद्वान का मत है कि सत्संगति ही सदाचार शिक्षा की सब से अच्छी पाठशाला है और सज्जनों का चरित्र ही नीति शास्त्र की सब से अच्छी पुस्तक है, और सत्संगति से जिस सदाचार की शिक्षा मिलती है वह सदाचार ही मनुष्य जीवन का सब से अधिक महत्वपूर्ण, उपयोगी और आवश्यक अंग है। जीवन की शोभा, महत्ता और श्रेष्ठता सदाचार ही से होती है। सच तो यह है कि एक मात्र सदाचार ही संसार का व्यवस्थापक नियम है। ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों का सब से अच्छा और बड़ा साधन सदाचार ही है। जो व्यक्ति कोरा विद्वान अथवा बुद्धिमान हो परन्तु सदाचारी न हो वह अपनी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता का श्रेष्ठ उपयोग भी कर सकता है और निकृष्ट उपयोग भी, परन्तु किसी सदाचारी से आप समाज के कल्याण और उपकार के अतिरिक्त हानि अथवा अपकार की स्वप्न में भी आशा नहीं कर सकते।

बस प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं उपयोगी और आवश्यक बातों का अच्छे ढंग से समावेश किया गया है। पुस्तक की उपयोगिता इसी से सिद्ध है कि पहले संस्करण की १००० प्रतियां हाथों हाथ बिक गईं और लेखक महाशय को इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। मुझे यह विश्वास है कि युवकसमाज में इस पुस्तक का बराबर अच्छा आदर होता रहेगा और लेखक महाशय इसे निरन्तर उत्तरोत्तर उपयोगी बनाते रहेंगे।

काशी
१०-६-२०

}

रामचन्द्र वर्मा



द्वितीयावृत्ति की भूमिका ।

संसार में जन्म धारण करने के पश्चात् मनुष्य का सन्तान कुछ काल में स्वभावतः संसर्गज संस्कार प्राप्त करता है । जिस प्रकार फोटोग्राफर का कैमरा लेंस के द्वार से अपने भीतर के प्लेट पर प्रतिबिम्ब धारण करता है उसी प्रकार मानव सन्तान इन्द्रियद्वाररूप लेंस से अन्तःकरण रूपी पटल पर संस्कार अङ्कित करता है । और गृहीत संस्कारानुसार स्मृति तथा स्मृत्यनुसार प्रवृत्ति बनाता है ।

काल, साधन, सामर्थ्य और स्वाभाविकअभिरुचि के अनुसार जो स्वभावतः संसर्गज संस्कार उपलब्ध होते हैं उनकी मात्रा अधिक होने पर वह प्रबल और नैमित्तिक साधारण शिक्षादीक्षाजन्य भाव प्रायः निर्बल होते हैं, इसी लिये अनुभवी विद्वानों ने वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली में सुधार और संशोधन की व्यवस्था कर कुमारों का उत्तम छात्रावासों में निवास नियत कर कुसङ्ग से रक्षित रखने का प्रबन्ध किया है और प्राचीन काल का अनुकरण करके वर्त्तमान में गुरुकुल ऋषिकुलादि की प्रणाली स्थापित की गई है ।

जिन महानुभावों ने भली भाँति निश्चित कर लिया है कि विद्यार्थीजीवन समस्त जीवन का मूल तथा गृहस्थादि आश्रमों की सफलता का हेतु है, वह कौमारजीवनरूपमूल में सदाचारामृतसिञ्चन की व्यवस्था करके संसर्गज दोषों

से सुरक्षित रखने के साथ ही नैमित्तिक शिक्षा दीक्षा का भी उचित प्रबन्ध करते हैं।

मैंने इस पुस्तक में जिस शिक्षा दीक्षा का सूत्रपात किया है उससे विशेष फल के प्राप्त्यर्थ यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि कुमारों को संसर्गज कुसंस्कारों से सुरक्षित रख कर ही विशेष लाभ की आशा हो सकती है।

मनुष्य समाज का सब से बड़ा धन उसके कुमारों का पवित्र जीवन है जिस समाज ने अपने कुमारों के जीवन को उपयोगी बनाने में उपेक्षा की है वह सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी भविष्य में अधोगति को प्राप्त हुआ है और जिस समाज ने अपने इस मूलधन की रक्षा करने में अनेक भांति के प्रयत्न किये हैं वह भविष्य में उन्नति रूपी व्याज को प्राप्त होकर चिरस्थायी ऐश्वर्य को लाभ कर सका है।

सम्प्रति विद्यार्थियों को संसर्गज दोषों से रक्षित रखने का सम्यक् प्रबन्ध न होने के कारण उनमें जो कुसंस्कार उत्पन्न होजाते हैं उनका अनिष्ट परिणाम विद्यार्थी ही नहीं प्रत्युत समाज भी भोगता है। विद्यार्थी कुमारावस्था में अपरिपक्व बुद्धि होने के कारण उचित नीति नियम का पालन करना नहीं जानते और प्रायः दुर्नीति स्वार्थियों के प्रपञ्च में ग्रस्त होकर बड़ी भारी हानि कर बैठते हैं जो राजा और प्रजा दोनों ही के लिये अनिष्ट होकर चिन्ता का कारण बन जाती है।

इन्हीं सब बातों का विचार करके इस पुस्तक में उन सब नियमों का दिग्दर्शन किया गया है जिससे कुमारों का जीवन

अनिष्ट विषय वासनाओं और हानिकारक भावों से रक्षित रहे और दुराचारी वृत्तियों की वृत्तकता से बच कर अपने देश समाज और साम्राज्य के लिये लाभदायक बने ।

प्रथम बार सन् १९१५ ई० में यह पुस्तक नवलकिशोर प्रेस कानपुर में मुद्रित की गई थी जिसकी १००० प्रतियां हाथों हाथ निकल जाने से शीघ्र ही द्वितीयावृत्ति मुद्रित कराने की आवश्यकता हुई । पर कागज़ की मँहगाई आदि कारणों से बिलम्ब हुआ, अनेक सज्जनों की प्रेरणा से यह द्वितीय संस्करण भारत के कुमारों के कर कमल में समर्पित है । यदि हमारे देश के नवयुवकगण इसको पढ़ कर अपने आचार व्यवहार में लावेंगे तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा ।

इस बार कतिपय महानुभावों की सम्मति से पुस्तक में न्यूनाधिक्य किया गया है । कुमारहितैषी विद्वानों से प्रार्थना है कि यदि पुस्तक में कोई त्रुटि प्रतीत हो तो मुझे सचित कर अनुग्रहीत करें । नागरी के प्रसिद्ध लेखक तथा हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादक श्रीयुत बाबू रामचन्द्र वर्मा ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर जो इसके मूल्य और मेरे उत्साह को बढ़ाया है इसके लिये मैं उन्हें अन्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ । पुस्तक रचनामें जिन विद्वानों के रचित ग्रन्थों से मुझे सहायता मिली है मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।

कुमार हितैषी—

शमानन्द उपदेशक

निवासी खानपुर औरैया प्रान्त इटावा

तृतीय संस्करण की भूमिका ।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९१९ ई० में नवल-किशोर प्रेस कानपुर से प्रकाशित हुआ था और उसकी १००० प्रतियां शीघ्र ही निकल गईं । द्वितीय संस्करण सन् १९२० ई० में हितचिन्तक प्रेस काशी से निकाला गया और यद्यपि इस द्वितीय संस्करण की १००० प्रतियां भी शीघ्र ही समाप्त हो गई थीं पर जनता की इस गुणग्राहकता और उत्साह-वर्द्धन का उचित उत्तर देने में अनेक कारणों से हम अब तक असमर्थ रहे जिसके लिये क्षमा प्रार्थी हैं और जो सम्मान उसने पुस्तक के दो संस्करणों को स्वीकार करके हमारा किया है उसके लिये हम जनता के अति कृतज्ञ हैं ।

जिस प्रकार जनता को इतने दिनों तक प्रतीक्षा में रखने का हमें खेद है उसी प्रकार इस बात से प्रसन्नता है कि हम तृतीय संस्करण में इस पुस्तक को उसके सम्मुख अधिक ग्राह्य और उपयोगी स्वरूप में रख रहे हैं । हमें पूर्ण आशा है कि इससे कुमारों का विशेष कल्याण होगा । यद्यपि प्रथम संस्करण के पश्चात् द्वितीय संस्करण में भी कुछ न्यूनाधिक्य किया गया था पर पुस्तक के स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था । जब द्वितीय संस्करण प्रेस में पहुंच चुका था श्रीयुक्त बाबू सम्पूर्णानन्दजी तथा अन्य सज्जनों ने पुस्तक में शारीरिक-

विज्ञानप्रकरण के जोड़ देने की आवश्यकता प्रकट की थी, उस समय न तो इतना अवकाश ही था और न पुस्तक का तत्कालीन स्वरूप ही ऐसे प्रकरण के जोड़े जाने की आज्ञा देता था, पर यह सम्मति थी बहुमूल्य और कुमारों को कतिपय शारीरिकज्ञान अवाञ्छनीय कदापि नहीं कहा जा सकता । इन्हीं तथा अन्यान्य कारणों से जिनमें सामयिक आवश्यकता भी एक है पुस्तक के इस तृतीय संस्करण में कुछ विशेषताएं की गई हैं ।

द्वितीय संस्करण तक पुस्तक एक निबन्ध स्वरूप में थी, प्रस्तुत संस्करण में कई नये प्रकरणों का समावेश ही नहीं किया गया है किन्तु पूर्व के अन्य प्रकरणों का स्पष्टीकरण और विशद वर्णन भी किया गया है तथा कुमारोपयोगी गूढ़ व आवश्यकीय बातों को समझाने के लिये चित्र भी दे दिये गये हैं । और ऐसा प्रयत्न किया गया है कि कुमारोपयोगी प्रायः सब ही बातों का समावेश संक्षेपतः पुस्तक में हो जाय । आशा है कि कुमार इस कर्त्तव्य निरूपण को पढ़कर निर्णीत पथ पर अग्रसर हो अपने जीवन को परमोपयोगी और सफल बनावेंगे । जिन कुमारों को पुस्तक में वर्णित बातों का अधिक विशद ज्ञान प्राप्त करना हो उनके लिये पुस्तक के अन्त में एक सूची पाठ्य पुस्तकों की दे दी है वे उनको मनन करें ।

इटावा
बिजयादशमी सं० १९८७ } साहित्यरत्न पाठक दयानिधि

सवैया ।

धार्मिक भूम जबै जग के निज ध्यान प्रजा हिन माहि धरेंगे ।
त्योहि 'शमानंद' वीर कुमार सबै मिलि कै पुरुषार्थ करेंगे ।
दीन दशा लखि कै तब हीं जगदीश कृपा करि दुःख हरेंगे ।
रे मन साहसि साहस छोड़ न साहस से सब काज सरेंगे ॥ १ ॥



इन्द्रिन जीत बने नर वीर तबै भव सागर से उतरेंगे ।
वर्णरु आश्रम के अनुकूल 'शमानंद' वैदिक कर्म करेंगे ।
धर्म प्रचारक स्वार्थ विसारि सुधारक हैं जग में विचरेंगे ।
रे मन साहसि साहस छोड़ न साहस से सब काज सरेंगे ॥ २ ॥



आमिष मद्य विहाय जबै नर सात्विक भोजन पान करेंगे ।
धूम्र तमाल सिगार हटें मख के जग धूम्र घने प्रसरेंगे ।
हिसक कर्म तजें सब ही अरु जीव सबै सुख सों विहरेंगे ।
रे मन साहसि साहस छोड़ न साहस से सब काज सरेंगे ॥ ३ ॥



दीन अनाथ निराश्रित हू बिन अन्न जबै दुखसों न मरेंगे ।
हों अवला विधवा न दुखी अरु गोहित में नर ध्यान धरेंगे ।
बाल विवाह कुरीति निवारि युवापन में जब व्याह रचेंगे ।
रे मन साहसि साहस छोड़ न साहस से सब काज सरेंगे ॥ ४ ॥

अथ कुमारकर्त्तव्यम् ।

विषय-प्रवेश

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिसं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजुः अ० २५ म० १३

आत्मिक ज्ञान प्रकाशक है वह ईश शरीरहु को बलकारी ।
जाहि उपासहि देव 'शमानंद' न्यायरु सीख करें सिरधारी ।
जाकर आश्रय मुक्तिप्रदायक जे बिसराहि लहैं दुख भारी ।
भक्ति करौ वहि की नितही मिलि होय तबै यह जीव सुखारी ॥

अकबर बादशाह अपनी अन्तिम विजययात्रा समाप्त कर
राजधानी को लौट रहे हैं । साथ में असंख्य सेना चल रही है,
शत्रुओं से प्राप्त रत्नराशि और सोने चांदी से लदी हुई
गाड़ियां चरमराती चली जाती हैं नामने उत्तर भारत

का विस्तीर्ण साम्राज्य है, जो अब उसका ही है, बैगमात का एक गिरोह भी साथ में है। ज़न, ज़मीन, ज़र, तीनों ही हैं। आगे डंके का शब्द होता जाता है, नकीब बोलते जाते हैं, बन्दीजन यश गान करते जाते हैं, सर पर मुकुट शोभायमान है, ऊपर डम्बर छत्र लहरा रहा है, चँवर दुर रहे हैं। इस प्रकार गजारूढ़ बादशाह अकबर एक छोटे से ग्राम के पास होकर निकलते हैं और एक अर्द्ध-नग्न-बालक-वृन्द को गेंद के खेल में तल्लीन देखते हैं। बादशाह की छाती धड़कने लगी, गला भर आया, आखें बन्द होगईं, फ़ीलवान को हाथी बैठाने का हुक्म हो गया, सैकड़ों सर ज़मीन तक झुक गये, हज़ारों तलवारें म्यान से आधी खिच गईं, तीरन्दाज़ों ने तीरों को कमान पर बराबर कर लिया, सिपाहियों ने बन्दूकें आगे कर लीं, गोलन्दाज़ों ने बारूद की थैलियां सम्हाल लीं, ख़ज़ानची ख़ज़ाने की गाड़ियों के पास पहुंच गये, वज़ीर हाथ जोड़ कर सामने खड़े हो गये। अकबर की भौंह का भारी होना था कि लश्कर में सन्नाटा खिच गया। प्रत्येक के हृदय में शब्द गूँजने लगे "कै केहु रंकहि करै नरेशू। कै केहु नृपाहि निकरहि देशू॥" सेनापति नग्न असि निकाले खड़े थे। उनके मुँह से शब्द निकले पड़ते थे।

अर्नाहत तोर प्रभू केहि कीन्हा।

केहि दुइ सिर केहि यम चह लीन्हा॥

सकों तोर अरि अमरहु मारी।

कहा कीट बपुरै नर नारी॥

शाहंशाह अकबर ने किसी की ओर भी न ताका । सीधे खेलते हुए बालकों के समूह में घुस गये और एक धूलधूसरित बालक को गले से लपटा कर देर तक रोये और कहने लगे “यागो जबसे तुमसे बिछुड़ा कभी इस खुशी का मुंह न देख पाया । हैच है इस फटी गेंद और गर्दों गुबार से भरे मैदान के आगे यह सारी सल्तनत और निसार है इस बे फिक्री की मौज पर सारी शाहाना शानशौकत और ऐशो इशरत” । अब तो अकबर के आसुओं के साथ हजारों आंसू भरने लगे, जवानों की तनी हुई छातियां ढीली पड़ गई ईंठी हुई मूछें झुक गई । सब के सामने कौमार जीवन का अनुपम दृश्य आकर उपस्थित होगया । प्रायः उजड़े हुए उद्यान का वसन्त समय स्मरण हो आया । कहां वे अटूट आशाएँ, उठती हुई उमंगें, लहराती हुई मौजें और नैश्चिन्त्य की सुखद शीतल मन्द सुगन्ध समीर और कहां अब, की हुई भूलों का परिणाम, जीवन संग्राम की कर्कशता, प्रतिपदप्रतिद्वन्दता की घबराहट और चिन्ता की लपटों से लपटा हुआ युवाजीवन । सेनापति, सिपाही चपरासी और प्रधान कुछ दिन पहिले एक ही मैदान में खेलते थे और थोड़े ही काल में एक नायक और दूसरा सेवक बन गया, एक अदना सिपाही दूसरा आला सिपहसालार होगया । समूचे जीवन के दशमांश के सदुपयोग और दुरुपयोग ने यह आकाश पाताल का अन्तर कर दिया । यह है कुमार जीवन का चित्र ।

कुमार जीवन की महत्ता, उपयोगिता तथा मनोहरता का आभास कुमार शब्द से ही मिलता है। संस्कृत भाषा में “कुमार क्रीडायाम्” धातु से अच् प्रत्यय लगाकर कुमार शब्द सिद्ध होता है जो अनेकार्थवाची तथा बहुव्युत्पत्ति-सम्पन्न है यथा (कुमारयति क्रीडतीति) जो खेलता है, (कौ पृथिव्यां मारयति दुष्टान्) जो पृथिवी में दुष्टों को मारता है, (कुमारयति नन्दति यत्र यस्मिन् सति) आनन्द को प्राप्त होता है जिसमें वह, (कुत्सितो मारः कन्दर्पो यस्मात्) कुप्रिय कामदेव है जिससे वह कुमार है इत्यादि ।

कुमार शब्द का प्रयोग बालक, युवराज, स्कन्द, शुक, अश्वोपचारक आदि अर्थों में होता है *। और इसके प्रत्येक अर्थ से उसकी यथार्थता तथा लावण्यता प्रकट होती है। यहां इतना स्थान नहीं कि उसके प्रत्येक अर्थ की परिभाषा करके उसकी सार्थकता दिखाई जाय कुछ अर्थों की सारवत्ता का दिग्दर्शन यथास्थान पुस्तक में आगे मिल जायगा ।

* कुमारः स्याच्छुके स्कन्दे युवराजेऽश्ववारके ।

वरुणाद्रौना न द्वयो जात्यकाञ्चने ॥

वायुपुराण

कुमारोऽश्वानुचारके
युवराजे शिशौ स्कन्दे शुके वरुणपादपे ।

कुमारं जात्यकनके कुमारीत्वपराजिता ।

नदीभिद्रामतरणी कन्यका नवमास्युमा ।

त्रिभूदीपविभागश्च” ।

हैमकोश

कुमारावस्था की महिमा ।

कोई विद्वान पञ्चवर्षीय बालक को, कोई यौवनावस्था से पूर्व की आयु वाले को, कोई युवराज और कोई अविवाहित को कुमार मानते हैं। अपने २ स्थान पर सब ही अर्थ कुमार शब्द से निकल सकते हैं। कुमार शब्द एक बहुकोण रत्न है जिससे अनेक भावरश्मियों का आभास सर्वथा स्वाभाविक है। परन्तु वर्तमान में यह शब्द नवयुवकों के लिये व्यवहृत हो गया है और इसी सर्वसाधारण सुलभ अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक के लक्ष्य न तो अज्ञान शिशु (पञ्चवर्षीय बालक) हैं और न नमुड़ने वाले कुकाठ रुढ़ युवक ही हैं। इस पुस्तक के लक्ष्य वे जीवन संग्राम में उतरने के लिये तैयार होने वाले नवयुवक हैं जिनकी ओर हमारे धृष्ट नेतागण टुकटुकी लगाए सुफल की कामना में मग्न रहते हैं।

प्रत्येक देश को सब से बड़ी सम्पत्ति सोना, चांदी, रत्न और बहुसंख्यक पशु नहीं कहे जा सकते बरन् उसके कुमार होते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मार्टन लूथर का वचन है।

“The prosperity of a country depends not on the abundance of its revenues nor on the strength of its fortifications nor on the beauty

of its public buildings but it consists in the number of its cultivated citizens, in its men of education, enlightenment and character; here are to be found its true interest its chief strength or real power."

“अर्थात् किसी देश की सम्पदा उसके भूमिकर (मालगुजारी) की बहुतायत, दुर्गनिर्माण की शक्ति, सार्वजनिक भवनों की सुन्दरता पर नहीं किन्तु उसके उत्तम नागरिकों की अधिक संख्या तथा उसके शिक्षित, उन्नत और सच्चरित्र मनुष्यों पर ही अवलम्बित है। यही उस देश का सच्चा कार्यक्षेत्र, मुख्य शक्ति और वास्तविक बल है”

देश के बड़े २ अनुभवी विद्वान और बृद्ध पुरुष अपनी महती आशाएं इन्हीं लहलहाते हुए पौधों पर लगाए भावी सुफल की कामना करते हैं, राजनैतिक अगुवा और सामाजिक नेता इन्हीं को अपनी भावी उन्नति का कारण मानते हैं, धार्मिक जन इन्हीं को सुयोग्य और सदाचारी बनाने के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। “अफसानये शबाब खुदारा न पूछिये, देखा था जागते में जिसे यह वह ख्वाब था” इस कवि वाक्यानुसार वस्तुतः कुमार जीवन ऐसा क्रान्तिमय है कि आगे चलकर इसकी यथार्थता में भी सन्देह होने लगता है। कुमार जीवन एक आश्चर्यमय लीला सा प्रतीत होता है। इसे जाग्रत स्वप्न कहने में कवि ने कोई अत्युक्ति नहीं की।

मानव जीवन में यह एक अद्भुत उमङ्ग और उत्साह से भरा हुआ जीवन है। जिस प्रकार अहर्निश में प्रातःकाल मन को आनन्द देने वाला और मानवी हृदयारविन्द को विकसित करने वाला भानु है, आबाल वृद्ध सब उसकी शुभ कामना करते तथा कविगण उमकी शोभा का वर्णन करते हुए नहीं थकते हैं उसी प्रकार मनुष्य जीवन में कुमार जीवन है इसे हम नरजीवन का मूल स्तम्भ और प्रकाशमान जगत का बाल-सूर्य कहें तो अनुचित न होगा।

मानवजीवन में कुमारजीवन एक क्रान्तिकारी युग है। ऐसरुताल साहब ने इस समय को जीवन का (Stormy period) तूफानी काल कहा है। जीवन का यह समय अनेक रहस्यों से भरा है। इसी जीवनयुग में मनुष्य साधारण पशुत्व से मनुष्यत्व और मनुष्यत्व से देवत्व और अमरत्व को प्राप्त होता है। यही वह समय है जो एक बर्द्धपुत्र को प्रधान मंत्री, तथा एक साधारण चमारसन्तान को सम्राट बना देता है। दूसरी ओर इसी समय के दुरुपयोग के कारण जज, डिप्टी-कलकृर, इञ्जीनियरों की सन्तानें चपरासियों से हीनतर हो-जाती हैं। इसी जीवन में प्रातःस्मरणीय शुकदेव ने अपने तपो-बल से अट्टासी सहस्र ऋषियों की व्यासगद्ग को प्राप्त किया था।

यह युग मनुष्य जीवन का स्वर्णयुग है। उत्साह, उमङ्ग और आशाओं से पूर्ण, नैराश्य और चिन्ताओं से रहित इस जीवन की उपयोगिता को कौन नाप सकता है। सब प्रकार

वर्द्धनशील और उन्नत्युन्मुख बालक अज्ञान से ज्ञानवान, निर्बल से सबल और शिशु से युवा होजाता है। यदि विपरीत वायु बाधाओं से बचा रहे तो एक नीरवक्षेत्र नन्दनबन होजाता है। कुमारजीवन कल्पवृक्ष है। प्रयत्नशील माता पिता अपने लाड़िलों को तथा सुबोध कुमार अपने आपको इस युग में जैसा चाहे बना सकते हैं। धार्मिक, विद्वान, नीतिज्ञ, वीर जैसी इच्छा हो वैसा ही बन जाने का समय कुमारजीवन ही है।

कुमारजीवन बड़ा संकटमय भी है। थोड़ी सी असावधानी से सारा जीवन नष्ट हो जाता है। जैसा यह मनोहर है वैसे ही अधिक प्रलोभन इसके लिये उपस्थित हैं। इस स्वच्छ सोते को गँदला करने वाले अनेक बबलडर बह रहे हैं। इस खजाने को लूटने के लिये हर समय काह्य तथा आभ्यान्तर शत्रु उपस्थित हैं। बहुधा बालक के परम मित्र बनने वाले साथी ही उसके घोर शत्रु होते हैं। बहुत से साधुवेश डाकू कुमार के जीवन-रस को लूटने के लिये हर समय स्थान स्थान में घात लगाये बैठे रहते हैं। ये पापी अपना जीवन तो नष्ट कर ही चुकते हैं अन्य कुमारों के जीवनों को नष्ट करना अपना ध्येय बना लेते हैं। कभी २ तो केवल इस लिये ही कि स्वयं तो नष्ट हो ही चुके हैं अन्य क्यों बच जायँ, तथा बहुधा अपनी निर्लज्जता को छिपाने और अपवाद को हटाने के लिये और अधिकतर दूषित कुमारजीवन के उलवण उदाहरण स्वरूप मदान्धता के वशीभूत हो नये आखेटों की टोह में घूमा करते हैं।

क्या माता पिताओं को अपने बालक के कोड़ियों जान निसार करने वाले दोस्तों द्वारा अपने द्वार का धरना देख कर कोई शङ्का नहीं होती ? इस अवस्था में इनके प्रगाढ़ प्रेम का क्या तात्पर्य है ? क्या ये सब उनके कुमार के हितचिन्तक हैं ? नहीं २ ऐसा होता तो आज इतने कुमारजीवन नष्ट होते न दिखाई देते, ये तो उगते हुए पौधे को समूल नष्ट करने वाली टिड्डियां हैं, विकसित कलिका को नष्ट करने वाले डांस हैं । नये २ व्यसनों की चाह बढ़ाने वाले, बिना ही दाम थियेटर, सिनेमा दिखाने वाले, साइकिल की सवारी बिना कहे ही सिखा देने वाले, बिना ही वृत्ति लिये अकारण ही पढ़ाने को उद्यत हो जाने वाले साथी और बिना विशेष कारण अत्यधिक प्रेम दर्शाने वाले मास्टरों से भी माता पिताओं को सावधान रहना चाहिये । जान बूझकर अज्ञान न बनना चाहिये । और न उपेक्षा करना चाहिये । ऐसे स्थान पर संकोच कर जाने से बहुत बड़ी हानि होने की सम्भावना है ।

कुमारों को भी समझ लेना चाहिये कि उनके स्वच्छ आकाश में खिले हुए शरच्चन्द्र समान प्रकाशमान मुख पर, कविकथित नील कमलवत सुन्दर बड़े २ नेत्रों पर प्राण न्यौछावर करने वाले उनके प्राणों के ग्राहक दुष्ट भ्रमर हैं जो उन्हें आभा के ढलते ही मुग्धाये पुष्प की भांति डाल पर सूख जाने के लिये छोड़ देंगे । इन जानी दोस्तों की आह भरी पुकारें, सूखी हुई आंखें, फीका रंग तथा लज्जासे लचे हुए चेहरे

कुमारों के लिये मर्मभेदी सन्देश है; उन्हें सावधान करने के लिये (caution posts) सावधान करने के स्तंभ हैं। इन खून के खत लिखने वाले खूनियों से ऐसे बचना चाहिये जैसे मौत से। कुमारों को चाहिये कि अपने सौन्दर्यरूपी कोष को छिपा कर रखें नहीं तो इन डाकुओं से बचाना कठिन हो जायगा।

उपरि लिखित बाह्य आपत्तियोंके अतिरिक्त कुमार जीवन में कुछ आभ्यन्तर परिवर्तन भी ऐसे होते हैं जिनके विषय में थोड़ी सी ढील होजाने से अनेक दुष्परिणामों के उपस्थित होने की सम्भावना है।

ये आभ्यन्तर परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं—मानसिक और शारीरिक। बचपन की सरलता चली जाती है, हृदय विलक्षण भावों से भर जाता है, जवानी की उठती हुई तरङ्गों के घनघोर शब्द से कुमार का मानसिक जीवन पूर्ण रहता है। उच्छृङ्खलता और संकोच का तुमुल युद्ध मच जाता है, उधर तो हृदय में उमड़ते हुए भावों को छिपाने की चाह और इधर स्वतन्त्र होकर संसारसागर में झूद पड़ने की उमंग। जितनी मानसिक शक्तियां हैं उनका विकास १४ से लेकर २१ वर्ष की आयु तक होता है। इस समय उन विकाशोन्मुख शक्तियों को उपयुक्त अवकाश की परमावश्यकता है। पर साथ ही इनमें से किसी एक के अति प्रबल हो जाने से अन्य शक्तियों के दब जाने का भी भय है। कुछ भाव तो ऐसे हैं जिनका

प्रथमावतार इसी काल में होता है। सर्व प्रथम मनुष्य को अनुगम और घृणा का सच्चा ज्ञान कुमारजीवन ही में प्राप्त होता है। द्वेष और द्वैधी भाव का अवतार भी इसी समय में होता है। स्वतन्त्रता की प्रथम भांकी इसी जीवन में होती है। उच्छृङ्खलता की आंधी भी इसी ऋतु में चलती है।

शारीरिक परिवर्त्तन समयानुसार १२ से २५ वर्ष तक होचुक्ते हैं। सामान्यतया रंग और पट्टों की वृद्धि के अतिरिक्त डाढ़ी मूँछ का निकलना स्वरयंत्र में गंभीरता आजाना आदि परिवर्त्तन होते हैं। उत्पादक अङ्ग वृद्धि पाकर जीवन के सार भूत रस वीर्य को सम्पादन करने लगते हैं।

सारांश यह कि इन्हीं परिवर्त्तनों के कारण एक साधारण बालक युवा होजाता है। इन्हीं मानसिक तथा शारीरिक परिवर्त्तनों के उचितानुचित प्रयोग में संसार के सारे वैषम्य का सार भग पड़ा है। सहस्र में ६६६ युवक इसी काल में बन या बिगड़ चुक्ते हैं, मनुष्य जीवन के इस रसायनिक काल का सदुपयोग उसके लिये अमरत्व का मार्ग खोल देता है। इस कल्पवृक्ष को उपयुक्त समय पर उचित जल वायु और अवकाश प्राप्त कराना प्रत्येक प्रेमी माता पिता, देश-भक्त नेता तथा जगत-सुधारक साधु का कर्त्तव्य है, भारतीय कुमारों का जीवन सुधार ही सच्चा स्वदेश प्रेम और परोकार है।

अब यह देखना है कि किस प्रकार कुमारों की शारीरिक और मानसिक उन्नति हो सकती है, कैसे समाज की उनको आवश्यकता है, किस प्रकार वे सच्चेस्वार्थसाधक और सच्चे देश-भक्त बन सकते हैं और इस उद्देश्यसिद्धि के लिये उन्हें किस प्रकार तैयार होना चाहिये वे किस प्रकार उत्तम नागरिक बन सकेंगे, उनका अपने व अपनी जाति व देश के प्रति क्या कर्त्तव्य है जिसका पालन कर वे अपने जीवन को सफल बना देश को उन्नतमस्तक कर सकेंगे ।



शारीरिकोन्नति ।

सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।

तदभावे हि भावानां सर्वाभवः शरीरिणाम् ॥

शरीर का मनुष्य जीवन के साथ वही सम्बन्ध है जो गुणी का गुण और आधार का आधेय के साथ है । जिस प्रकार न बिना गुण के गुणी और न बिना आधार के आधेय की स्थिति हो सकती है उसी प्रकार बिना शरीर के मनुष्य जीवन के अस्तित्व की कल्पना असम्भव है । चाहे इसे दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय चाहे वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय एक ही तत्व निरूपण होता है । इसी लिये ऊपर श्लोक में कहा है कि अन्य सब बातों को छोड़ कर शरीर की रक्षा करना चाहिये क्योंकि शरीर के न रहने पर सब ही बातों का लोप होजाता है ।

आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत में मनुष्य जीवन शरीर की क्रियाएँ मात्र हैं, शारीरिक चेष्टाओं से इतर कोई मनुष्यजीवन है ही नहीं ! मन, बुद्धि और आत्मा इस शरीर की भिन्न २ परिस्थितियों की भिन्न २ कलाओं के नाम मात्र हैं । शरीरज्ञानतन्तुओं द्वारा बाह्य जगत का संचित ज्ञान तथा उसका स्वानुभव ही आत्मा है इत्यादि । प्राचीन ऋषियों

के विचार में यह सिद्धान्त भ्रम पूर्ण है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शरीर का मनुष्य जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उसके एक ही होने का भ्रम तो हो सकता है ।

मनुष्य जीवन का विकाश बिना शारीरिक उन्नति के सम्भव नहीं । स्वस्थ शरीर ही स्वस्थ मन और सबल शरीर ही सबल आत्मा का स्थान हो सकता है । शरीर ऐसी वस्तु नहीं जिसकी उपेक्षा की जा सके यह मनुष्य जीवन की नौका है । भवसागर से उतरने का मूल साधन है । इसको सुदृढ़ और सुरक्षित रखना मनुष्य मात्र का प्रथम कर्त्तव्य है । शास्त्रकारों ने इसको मुक्ति का द्वार माना है “ऋते ज्ञानात् मुक्तिः” अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति असम्भव है बिना स्वास्थ्य के ज्ञान का होना असम्भव है अतएव कहा गया है कि “शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्” अर्थात् शरीर ही धर्म का आदि साधन है । कर्त्तव्य शास्त्र के विद्वान चाहे सुखवादी हों चाहे परमार्थवादी, शरीर को धर्म का मुख्य साधन निश्चित करते हैं । वेद में भगवान कहते हैं—“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छान्त्समाः” अर्थात् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो । क्या बिना स्वस्थ शरीर के कोई इस आज्ञा का पालन कर सकता है ? गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं ।

ऊर्ध्वमूलसधःशाखा अश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

अर्थात् “जिस वृक्ष को ऊपर को जड़ और नीचे शाखाएं हैं, उत्तम वाक्य ही जिसके पत्र हैं, उसको जानने वाला ही सच्चा वेदज्ञ है” यह वटवृक्ष मनुष्यशरीर है। मनुष्यमस्तिष्क उसकी मूल है और नीचे को फैले बाह्यादि अङ्ग शाखाएं हैं मुख से निकलनेवाले सुन्दर वाक्य लहलहाते हुए पत्र हैं यह मनुष्य-शरीर ही सच्चा वेद्य पदार्थ है। इसको अश्वत्थ कहने का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार अश्वत्थ (वट वृक्ष) को शाखाओं में से वरारोहणियां निकल कर पृथ्वी में प्रविष्ट होकर फिर मूल होजाती हैं और वृक्षको अमर कर देती हैं उसी प्रकार मनुष्य शरीरसे उत्पन्न उसकी सन्तति मनुष्य को अमर कर देती है।

शरीर तत्काल फल देने वाला देव है। शरीर की सेवा मनुष्य के स्वार्थ और परमार्थ दोनों को सुधारती है। जीवन संग्राम में उतरने वाले कुमारों को शारीरिक स्वास्थ्य और बल सर्वथा अपरिहार्य हैं।

भवसागर में उतरने से प्रथम अपनी नौका के कील कांटे ठीक कर लेना कितना आवश्यक है। इसके ऊपर विशेष बल देने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। अङ्गहीन, निर्बल पहलवान का अखाड़े में उतर कर ताल ठोकना कैसा हास्यास्पद होगा। भारतवर्ष आजकल रोगियों का अस्पताल होरहा है उसके रोगियों की संख्या में वृद्धि करके बोझ बढ़ाना स्वार्थ हानि ही नहीं सामाजिक पाप भी होगा। निर्बल सन्तान जाति के जीवन में रुग्ण कीटाणुओं की भांति उसके

नाश की साधन मात्र है, वह समाज के लिये बोझ है। भारत वर्ष को सबल सन्तानों की विशेष रूप से आवश्यकता है, यह मृतप्राय भारतीय समाज एक भी निर्बल सन्तान का बोझ सहन करने की सामर्थ्य नहीं रखता।

कुमारजीवन स्वास्थ्यवृद्धि करने के लिये सर्वोत्तम समय है। इस अवस्था में प्रकृति स्वयं शारीरिक विकाश में लगी हुई होती है, इस अवसर पर थोड़ी सी सावधानी और इस प्रकृति कार्य में सहायता करने से जन्म भर के लिये शरीर सुदृढ़ होजाता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि १२ से लेकर २५ वर्ष तक समस्त शारीरिक विकाश हो चुकते हैं उसके पश्चात् जिस अवस्था को शरीर प्राप्त हो चुकता है उससे अधिक विकाशयुक्त नहीं हो सकता। २५ वर्ष की आयु के पश्चात् शरीर की स्वास्थ्यरक्षा मात्र की जासकती है, परन्तु कुमार जीवन में प्रकृति कार्य को सहायता पहुंचा कर विकाश में वृद्धि की जा सकती है। अङ्गों को उपयुक्त उपकरण उपास्थित करके जैसा सुडौल और सुदृढ़ चाहें बनाया जा सकता है। इस अवसर पर असावधानी करने से जो विकार शरीर में आजाता है वह आजन्म नहीं निकल सकता। जो अङ्ग इस अवस्था में विकृत हो जाते हैं उनका सुधरना दुःसाध्य हो जाता है। प्रकृति अपनी न्यूनताओं को आप पूरा करने का प्रयत्न करती है। पैतृक न्यूनताओं को पूर्ण और निर्बलताओं को दूर करने का यही समय होता है। बहुधा देखा जाता है

कि कुछ बालकों के पैतृक दोषों के कारण हृदयादि जन्मतः निर्बल होते हैं। इस निर्बलता को प्रकृति अपने में रहने देना नहीं चाहती और यदि इस अवसर पर प्रकृति के कार्य को उप-युक्त सहायता मिल गई तो यह निर्बलता सदा के लिये बिदा हो जाती है तथा इसके विपरीत, बाधा पड़ने से, कुमारावस्था के पश्चात् वह अविकसित अङ्ग अपूर्ण रह जाता है, और इसका दुष्परिणाम उसकी सन्तान को भी भोगना पड़ता है।

शारीरिक उन्नति के ३ अङ्ग हैं—उत्पन्न और प्राप्त शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करके स्थायी बनाना, सञ्चित शक्ति में उन्नति करना और उसे ह्रास से बचाते रहना, यही शारीरिक उन्नति का तत्त्व है। कुमारावस्था में इस शारीरिक उन्नति की व्यवस्थाका आधे से अधिक कार्य प्रकृति करती है। परन्तु इस प्रकृतिकार्य में एक दोष भी है और वह यह है कि प्रारम्भिक काल में इतना अधिक विकाश होना आरम्भ हो जाता है कि बालक को असह्य प्रतीत होता है और इस उथल पुथल को न समझकर वह अकबका जाता है। उसकी नौका के पाल में इतनी अधिक वायु भर जाती है कि उसका प्राप्त ज्ञान उसको सहायता पहुंचाने में असमर्थ हो जाता है वह इस आकस्मिक परिवर्तन के सम्हालने में समर्थ न हो सकने के कारण इसके बोझ को हलका करने की धुनमें लग जाता है। चिन्तित होकर इस चिन्ता को छिपाने का प्रयत्न करता है। वह अपने को प्रथम जैसा अन-

भिन्न सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इस अवसर पर उसके पास ही उपस्थित नष्टमति पुरुष जो इस परिवर्तन की इच्छाओं से अनुचित लाभ उठाने की चिन्ता में रहते हैं बालक के बोझ को हल्का करने के बहाने उसके समवेदी बनकर उसके विकाश के उत्थान को मार देते हैं।

शारीरिक उन्नति की व्यवस्था का यह प्रथमावसर १२वीं से आरम्भ होकर १५वीं वर्ष तक रहता है। इस अवसर पर उचित व्यवस्थापक की परमावश्यकता होती है। आधुनिक विद्वानों का मत है कि बालक को इस विकाशावस्था अथवा इन परिवर्तनों से प्रथम ही अभिज्ञ कर देना चाहिये और इसके कुछ ऐसे उत्तम साधन बतला देना चाहिये जिससे वह इस परिस्थिति से न घबरा कर उसके सम्हालने में लग जाय। यह भी आवश्यक है कि माता पिता अपने बालक को यह दर्शा दें कि वे उसकी इस अवस्था से पूर्ण परिचित हैं और बालक को उनसे उसे छिपाने का प्रयत्न स्वयं व्यर्थ प्रतीत हो और वह यह जान जाय कि उसे समवेदी खोजने के लिये अन्य स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं। बालक को स्वयं ही माता पिता के उपस्थित किये जाने वाले उपकरणों से यह ज्ञान होजान चाहिये कि वे उसकी इस नई स्थिति के सम्हालने में सहायता पहुंचा रहे हैं। माता पिताओं का जान-बूझ कर अनजान बनना बड़ा ही हानिकारक है उनका यह प्रकट करना कि उनका बालक संसार के सब बालकों से

निराला है और उस में प्रकृति अपना वह साधारण नियम छोड़ बैठी है केवल अपने को धोखे में डालना है ।

परन्तु कुछ माता पिता ऐसे भी होते हैं जो स्वयं नष्ट-जीवन हैं उन्होंने अपना जीवन तो नष्ट कर ही दिया है । अपनी सन्तति के जीवन सुधार की सामिग्री उन्हें ज्ञात ही नहीं । ऐसे माता पिताओं की सन्तति के हाथ में प्रस्तुत पुस्तक समान सामिग्री का मिल जाना ही एक मात्र उत्तम साधन है ।

दूसरा खंड शारीरिक विकाश का १५ से २० तक है । इस समय परिवर्तन का उपद्रव कुछ शान्त सा हो जाता है, इस समय शरीर में बलवृद्धि होती और मनुष्य का अङ्ग प्रत्यङ्ग पूर्णता को प्राप्त होने लगता है इस अवसर पर सब कमी पूरी की जानी चाहिये, शरीर में असीम बल और ओज की प्राप्ति करनी चाहिये । यदि प्रथम विकाश रोका नहीं गया है तो इस समय का खाया पचाया एक २ कण शरीर में आजन्म लाभ पहुँचाता है । बल की वृद्धि और अङ्गों को सुडौल बनाने का इस समय पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये । यह समझ रखना चाहिये कि इन पांच वर्षों में पचाया भोजनपान ७५ वर्ष तक काम देता है । जो अपने की इन ५ वर्षों में सबल बना लेगा वह आजन्म निर्बलता के दुःख से दूर रहेगा । सारांश यह है कि १५ से २० वर्ष तक की आयु का समय शारीरिक उन्नति का मध्य है यह आधान समय है उसमें बलाधान करना चाहिये ।

अन्तिम समय शारीरिक उन्नति का २० से लेकर २५ वर्ष पर्यन्त है, यद्यपि २० वर्ष तक प्रायः समस्त शारीरिक विकाश पूर्ण हो चुकता है पर अभी यह सब विकाश अपरिपक्व दशा में रहता है, इन अन्तिम ५ वर्षों में उस विकाश में प्रौढ़ता, प्रगल्भता और परिपक्वता आजाती है। इस समय बड़े २ विद्वान भूल जाते हैं, इस समय को गवर्नमेन्ट तक ने विवाह का परिपक्व समय मान लिया है पर वास्तव में यह अपरिपक्व उन्नति है अधूरा विकाश है, जीवन के निर्वाह योग्य शक्ति आनुकती है पर सम्यग्रूपेण सुखपूर्वक जीवन निर्वाह करने के लिये यह परमावश्यक है कि २० वर्ष तक विकाश को प्राप्त शरीर को ५ वर्ष और परिपक्व और प्रगल्भ होने दिया जाय। यह काल शारीरिक उन्नति की रक्षा का है, इस समय ओजवृद्धि होती है, जो कुमार ओज और प्रताप के इच्छुक हैं उन्हें इन ५ वर्षों में शरीर की प्रत्येक प्रकार के ह्रास से रक्षा करनी चाहिये। हां जो किसी प्रकार जीवन बिताना ही जीवनोद्देश्य समझते हों वे जो चाहें सोकरें, पर उन्हें याद रखना चाहिये कि शक्ति की धार पर शान रखना भूल जाना सारी शान को किरकिरी में मिला देना है, इन अन्तिम ५ वर्षों में शरीर पर पानी चढ़ जाता है, शान आजाती है।

शारीरिक उन्नति की ३ अवस्थाओं और ३ प्रकारों का वर्णन करके आगे के प्रकरणों में उनकी व्यवस्था दी जाती है।

ब्रह्मचर्य ।

मृत्युव्याधिजरानाशो पीयूषं परमौषधम् ।

ब्रह्मचर्यं महद्गुणं सत्यमेव वदास्यहम् ॥

प्रकृति के शरीरनिर्माण का कार्य माता के गर्भ पर्यन्त ही परिमित नहीं रहता, मनुष्य का वास्तविक शरीरनिर्माण तो माता के उदर के बाहर ही होता है, नवजात शिशु और पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचारीके शरीरों को देखने से इसकी यथार्थता स्पष्ट होजाती है । इन दोनों में इतना ही अन्तर है जितना प्रासाद की नींव और बने हुए प्रासाद में, एक खाका और पूर्ण चित्र में, जिस प्रकार प्रासाद केवल अपनी नींव का वृद्धि-प्राप्त रूप ही नहीं है और न चित्र ही मानचित्र का । उसी प्रकार एक युवकशरीर वृद्धिप्राप्त शिशुशरीरमात्र नहीं है । यदि ब्रह्मचर्यादि द्वारा शिशु के वृद्धि को प्राप्त होते हुए शरीर की उचित रक्षा न की जावे तो वह एक ऐसा निस्तेज शरीर होगा जिसको मनुष्य शरीर कहने में सभ्य समाज को लज्जा प्रतीत होगी ।

जन्मतः प्राप्त शरीर के अवयवों की साधारण वृद्धि मनुष्य जीवन के दशवें वर्ष तक निरन्तर चली जाती है । सामान्यतः

दशवें वर्ष के पश्चात् मनुष्यशरीर में कुछ ऐसी प्रक्रियाओं तथा अङ्गों का विकास प्रारम्भ होजाता है जिसकी स्थिति का परिचय पहले नहीं मिलता । सम्भव है बीज रूप में वे क्रियाएं और विकास मनुष्य बीज में ही उपस्थित हों । अभी तक जो शरीर प्रकृति ने बनाया था वह मनुष्य समाज के उपयुक्त न था वा यों कहिये कि उस कार्य के योग्य न था जिसके लिये उसे प्रकृति ने बनाया था, अभी तक वह समाज की रक्षा और वृद्धि किसी के योग्य न था । १० वर्ष की आयु से लेकर २५ वर्ष पर्यन्त प्रकृति मानवसन्तान को मनुष्य बनाती है, अपनी दी हुई मैशीन में एक ऐसी प्रक्रिया का विकास करती है कि जो उस यन्त्र की रक्षा पूर्ण आयु तक करे और साथ ही वैसी ही और मैशीनें भी उससे बनाई जा सकें । प्रकृति के इस विकासकार्य में बाधा न डाल कर सहायता पहुंचाने का वैदिक नाम ब्रह्मचर्य है ।

मुनिवर धन्वन्तरि ने २५ से ४० वर्ष तक की अवस्था को सम्पूर्णतावस्था माना है यथा:—

चतस्रोवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता
किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिः । आप-
ञ्चविंशतेर्यौवनम् आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता । ततः
किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

अर्थात् शरीर की ४ अवस्थाएँ हैं। एक वृद्धि जो १६ से २५वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की वृद्धि होती है, दूसरी यौवन जो २५ वर्ष के अन्त और २६वें वर्ष के आदि में युवा-वस्था का आरम्भ होता है। तीसरी सम्पूर्णता जो पच्चीसवें वर्ष से ले के ४०वें वर्ष पर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती है, चौथी किञ्चित्परिहाणि जो ४०वें वर्ष के पश्चात् शरीर के धातु कुछ क्षीण होने लगते हैं।

ब्रह्म शब्द का अर्थ वृद्धि, वेद, अन्न, तप, ज्ञानादि है। और चर्य से गति, आचरण करना, खाना, रक्षणादि का बोध होता है। “जो वेद के अध्ययनार्थ वा ज्ञान की प्राप्ति के लिये व्रत करता है वह ब्रह्मचारी है, जो आनन्द को अपने में धारण करता है, जो अन्न के साररूप वीर्य का रक्षण करता है वह तथा जो मन को वश में करता है वह ब्रह्मचारी है। इसको कर्त्तव्य कहिये या व्रत एक ही बात है, एक दृष्टि से यह बड़ा भारी स्वार्थ है तो दूसरी दृष्टि से महापरोपकार भी है ऊपर दिये श्लोक में मुनिवर धन्वन्तरि जब यह कहते हैं कि “ब्रह्मचर्यरूपी रत्न रोग-व्याधि-जरा-मृत्यु-नाशक अमृत सर्व श्रेष्ठ औषधि है” तो वे ब्रह्मचर्यकी आंशिक महिमा ही प्रकट करते हैं।

वीर्य का सम्बन्ध प्राणों के साथ है। जिसका वीर्य जैसा बलवान् होता है उसके प्राण भी वैसै ही बलवान् होते हैं। आदित्य ब्रह्मचारी भीष्म पितामह ने प्राणों को ब्रह्मचर्य द्वारा

बलवान बनाने ही के कारण ६ मास तक शरशय्या पर पड़े रहकर इच्छित समय में अपने शरीर को छोड़ा था। यदि सूक्ष्मतया देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वीर्यनाश ही मृत्यु है। प्रजनन कार्य का दूसरा रूप ही मृत्यु है। छोटे २ प्राणियों में तो तात्कालिक मृत्यु देखी गई है। एक शैलीय जन्तुओं के प्रजनन के अर्थ ही अपने अस्तित्व को खोने के हैं। जैसे अमीबा (एक शैलीय जन्तु) जब पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाता है तो विभक्त हो जाता है यही उसका प्रजनन कार्य है यथा 'अ' अमीबा अपने प्रजनन कार्य में विभक्त होकर 'ब' और 'स' में परिणत होजाता है और अपने अस्तित्व को खोबैठता है। यह सत्य है कि इससे समाज की वृद्धि होती है पर व्यक्तित्व का तो नाश हो जाता है। और फिर यह परिपक्व ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर प्रजनन में लगने का परिणाम है और वृद्धि अपूर्ण रहने पर ही प्रजननलप्ति का परिणाम तो व्यक्ति और समाज दोनों का नाश होता है। ब्रह्मचर्य शक्ति संचय है, संचय का विपरीत विचय है और विचय और नाश एक ही वस्तु है अतएव अब्रह्मचर्य अवश्यमेव नाश का हेतु है।

वेदों में ब्रह्मचर्य की बहुत महिमा वर्णन की गई है। अथर्व-वेद में तो एक ब्रह्मचारी सूक्त ही है। इस सूक्त में ब्रह्मचर्य का बड़ा ही रोचक तथा वैज्ञानिक वर्णन है।

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी
 उभे तस्मिन् देवाः समनसो
 भवन्ति सदाकार पृथक् दिवं च
 स आचार्यं तपसा पिबति ॥

अथर्व० । ११ का० । ३ अनु० । १ सू० । १ ब्र०

अर्थात् ब्रह्मचारी आकाश और पृथिवी दोनों में इच्छानुकूल चलता है उसके अन्दर समस्त देव अपनी शक्तियों सहित सानुकूल निवास करते हैं। वह पृथिवी और द्युलोक को धारण करता है और वह अपने तप से आचार्य को सन्तुष्ट करता है।

यह देखिये ब्रह्मचारी की विभूति जो संसार के समस्त पदार्थों को ही नहीं बरन् समस्त देवशक्तियों को अपनी इच्छागामी बना लेता है उसमें ही संसार-मर्त्यलोक और स्वर्लोक दोनों को धारण करने की सामर्थ्य होता है। केवल ब्रह्मचारी ही अपने आचार्य की सदिच्छाओं को परिपूर्ण कर सकता है।

इसी सूक्त में आगे चलकर परमात्मा को बड़ा ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारी को छोटा ब्रह्मचारी कहा है, वास्तव में यदि परमात्मा की परमविभूति की प्रतिकृति है तो केवल ब्रह्मचारी ही है। व्याधि, जरा और मृत्यु क्या हैं वात, पित्त, कफ का

व्यतिक्रम । जब तक शरीर में वात, पित्त, कफ समभाव से विद्यमान हैं तब तक व्याधि, जरा और मरण से मनुष्य विमुक्त है । जल, वायु, अग्नि, पृथिव्यादि तत्त्व जिनकी देव संज्ञा है शरीर में वात, पित्तादि रूप धारण करके वर्तमान रहते हैं । ब्रह्मचारी में वह देवगण सानुकूल निवास करते हैं अतएव वह व्याधि जरा और मरण को जोत सकता है । इसके अतिरिक्त ऐतरेय उपनिषत् २ । ४ । में लिखा है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ।

वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत् ।

आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽअक्षिणी प्राविशत् ।

विशः श्रोत्रंभूत्वा कर्णौ प्राविशत् ।

औषधि वनस्पतयो लोमानभूत्वा त्वचं प्राविशत् ।

चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत् ।

मृत्युरपानोभूत्वा नासि प्राविशत् ।

आपोरेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशत् ।

ऐतरेय उ० २ । ४

इससे स्पष्ट शरीरस्थ देवताओं का वर्णन और क्या हो सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी की प्रत्येक इन्द्रिय शक्तिसम्पन्न होकर पूर्णता को प्राप्त होती है । इसी लिये कहते हैं “सदाधार पृथिवी दिवंच” कि ब्रह्मचारी पृथिवी

और धुलोक को धारण कर सकता है इसी बात को इसी सूक्त के आठवें मंत्र में और भी स्पष्ट करते हैं ।

आचार्यस्ततस्तन्नमसी उमे
इमे उर्वी गंभीरे पृथिवी दिवंच ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥

अथर्व । ११ का० । ३ अ० । १ सू० । ८ ऋ०

अर्थात् “ये दोनों बड़े गंभीर लोक पृथिवी और धुलोक आचार्य ने बनाये हैं ब्रह्मचारी अपने तपसे उन दोनों का रक्षण करता है क्योंकि ब्रह्मचारी के अन्दर सब देव अनुकूल मन से रहते हैं” । इस से अधिक प्रामाणिक ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन और कहाँ मिल सकता है ।

आचार्य चरक का मत है “मरणं चिन्दुपातेन जीवनं चिन्दु धारणात्” अर्थात् वीर्य की एक बूंद नष्ट करना मरण है और उसकी एक बूंद धारण करना जीवन है ।

आहारस्य परंधाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।

क्षये ह्यस्य बहून रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥

अर्थात् आहार के बड़े स्थान (तेज) अपने वीर्य की रक्षा करो क्योंकि इसके नाश से अनेक रोग होते और मनुष्य मृत्यु तक को प्राप्त हो जाता है ।

जिस समय महाराज रामचन्द्रजी की सेना के बड़े २ वीर पुरुषों में से कोई भी समुद्र पार जाने का तैयार नहीं होता था उस समय ब्रह्मचर्य द्वारा प्राणों को बलवान बनाने वाले सुमत् हनुमानजी ही कटि बांध कर खड़े हो गये और समुद्र पार लड्डू में जा बड़े २ उत्कट योद्धाओं को अपने अतुल पराक्रम और अद्भुत चातुर्य से चकित कर दिया । कहा है:—

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमाराः ब्रह्मचारिणः ।

विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाले तपस्वी, विद्या और वेद की दीक्षा पाये हुए कुमार ही कठिनाइयों को पार करते हैं ।

मुनिवर धन्वन्तरि “शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्य मिच्छता” इस आदेशानुसार बतलाते हैं कि जो लोग संसार में आरोग्य रहना चाहें वे वीर्य की विशेषरीति से रक्षा करें । हमारे शरीर के आरोग्यतार्थ अग्नि और धातु इन दोनों के शुद्ध और बलवान रहनेकी बड़ी आवश्यकता है । पर इनके साधनों में विरोध है, क्षार और रेचक पदार्थ जो अग्निवर्द्धक हैं धातु को हानिकारक हैं, और पोष्टिक पदार्थ जो वीर्यवर्द्धक हैं अग्नि के लिये हानिकारक हैं यदि इस विरोध को मनुष्य दूर

कर सकते तो बड़े २ राजा और धनिक पुरुष पौष्टिक और वीर्यवर्द्धक पदार्थों को खाते हुए विषयी होकर भी अपनी आरोग्यता और बल को बढ़ा लेते पर कृत्रिमरीति से बल, वीर्य और अग्नि की वृद्धि न होसकने के कारण वे ऐसा नहीं कर सकते । जो लोग नियमपूर्वक वीर्यरक्षा करते हैं वही अग्नि और धातु को शुद्ध तथा बलवान बना कर आरोग्यता प्राप्त कर सकते हैं ।

आरोग्यता का सच्चा स्वरूप खाये हुए पदार्थों का ठीक २ पाचन होकर शरीर में मिल जाना है । यह बात बिना ब्रह्मचर्य के असम्भव है । आधुनिक विद्वानों का मत है कि मनुष्य असंख्य जीवित कीटाणुओं की एक बस्ती है, उसकी आरोग्यता इन्हीं कीटाणुओं की स्वस्थता, नवीनता और बलवत्ता पर अवलम्बित है । शरीरव्यापी वीर्य ही एक ऐसा पदार्थ है जो यह कार्य कर सकता है, निष्कर्ष यह कि आरोग्यता लाभ के लिये ब्रह्मचर्य की अति आवश्यकता है ।

घोर संग्राम में विजयी होना उन्ही लोगों का काम है जो सदाचारी और वीर्यवान हैं । आकर्षण और विद्युतशक्ति के ज्ञाता रेल, तार, वायुयान, (Aeroplane) क्रूजर (Cruiser) वेतार का तार (Wireless Telegraphy) आदि के अविष्कर्ता वही लोग हुए हैं जो सदाचारी और वीर्यवान थे, विषयी और बालविवाही मनुष्यों की मस्तिष्कशक्ति इस योग्य नहीं हो सकती कि वे कोई नूतन आविष्कार कर सकें न

उनके शरीर ही इस योग्य हो सकते हैं कि कोई महान पुरुषार्थ कर सकें ।

संसार के इतिहास से पता लगता है कि बड़े २ देशों के उन्न-
तिशिखरारूढ़ होने का कारण ब्रह्मचर्य और अधःपतनका कारण
विषयवासना हुई है । भारत के दीपनिर्वाणकर्त्ता महाराज
पृथ्वीराज उस युद्ध में जाने के पहिले जिसके पश्चात् आर्या-
वर्त्त का सौभाग्यसूर्य क्षत्रियों के रक्त में डूब गया और देशको
दासत्वश्रद्धालाबद्ध होना पड़ा अपने को विषयवासना के गर्त में
गिरा चुके थे संसार का प्रसिद्ध वीर नैपोलियन बोनापार्ट
(जो "Impossibility is found in the dictionary of
fools" अर्थात् असम्भव का शब्द मूर्खों के कोषमें पाया जाता
है के सिद्धान्त का मानने वाला था) जिस समय अपने उद्देश्य
के उच्चाशिखर से गिरता है, वीर्य को बुरी तरह नष्ट कर चुका
था । वेदों में ब्रह्मचर्य को सब प्रकार की सिद्धियों के पाने तथा
मृत्यु के दुःख से बचने का मुख्य साधन बतलाया है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा
राष्ट्रं किरक्षति । आचार्यो ब्रह्म-
चर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

अथर्व० । ११ का० ३ अनु० । २ सू० । १७ ऋ०

अर्थात् ब्रह्मचर्य रूप तपस्या धारण करने वाला राजा प्रजा पालन में निपुण होता है और ब्रह्मचर्य के कारण आचार्य विद्यावृद्धि के लिये ब्रह्मचारी से प्रीति करता है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु- मपान्नत ।

अथर्व० । ११ का० । ३ अ० । २ सू० । १६ ऋ०

अर्थात् ब्रह्मचर्य रूप तप से विद्वानों ने मृत्यु (मृत्यु के कारण निरुत्साह दरिद्रतादि) को हटा कर नष्ट किया है ।

आम का फल उस समय पक कर गिरता है जब उसके रस से मनुष्य तृप्त होजाय और उसकी गुठली भूमि में डाल देने से दूसरा वृक्ष भी तैयार होजाय । यदि आम के उस फल को जो पक कर आपाढ़ के महीने में आने वाला है कोई मनुष्य चैत्र मास ही में जब कि उसकी गुठली भी दृढ़ नहीं हुई है कच्ची दशा में भूसै आदि में दबा कर पकाना चाहता है तो वह सड़ जाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य २५ वर्ष की आयु से पहिले अपने वृद्धि और पुष्ट को प्राप्त होते हुए वीर्य को किसी प्रकार से निकालता है वह उस सड़े हुए फल तथा ऐसे बढ़ते हुए वृक्ष की भांति जिसके खूल को कुल्हाड़े से काट दिया जाता है नष्ट होजाता है और अपने आगामी जीवन के सुख और सुधार से सर्वथा वञ्चित हो जाता है ।

यदि ध्यान से देखा जाय तो ब्रह्मचर्य ही कुमारकर्त्तव्य है, आरोग्यता का साधन और जीवनसाफल्य की कुंजी है, शारीरिक उन्नति का सार और मानवी जीवन की आधार शिला है। अब यह देखना है कि इस महारत्न का स्वरूप क्या है, इसकी प्राप्ति की विधियाँ और साधन कौन २ से हैं उसके बाधकपदार्थ क्या हैं और उनसे बचने के उपाय क्या हैं।



ब्रह्मचर्य का स्वरूप ।

ऊपर दिये गये ब्रह्मचर्य के शब्दार्थ से यह बात स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध केवल शारीरिक उन्नति से ही नहीं, वरन् मानसिक विकाश से भी उतना ही है, उसका जैसा निकट सम्बन्ध भौतिक ऐश्वर्य से है वैसा ही आत्मिक उन्नति से है । जिस प्रकार ब्रह्मचारी का यह कर्तव्य है कि वह अपने शरीरस्थ धातुओं का रक्षण करे उसी प्रकार उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह आचार्य की सेवा कर विद्या और ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करे । अपने २ अभिष्ट की दृष्टि से आचार्यों ने ब्रह्मचर्य की अलग २ व्याख्या की है परन्तु इसके अर्थों का पूर्ण वर्णन ऋषिप्रणीत सूत्रों में दिये हुए ब्रह्मचर्य ही के कर्तव्यों में मिलता है । यथा:—

ब्रह्मचार्यसि असौ ।

आचार्याधीनो वेदमधीष्व ।

द्वादशवर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण ।

आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ।

क्रोधानृते वर्जय ।

कौशीलवगन्धाज्जनानि वर्जय ।

मैथुनं वर्जय ।

अकामतः स्वयमिन्द्रिय स्वर्शनवीर्यस्खलनं
विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेतः सततं भव ।

सुशीलोमितभाषी सभ्योभव ।

अर्थात् तू ब्रह्मचारी है । आचार्य के आधीन रहकर वेद पढ़ । प्रति वेद के लिये १२ वर्ष ब्रह्मचर्य रह और अधर्म को छोड़ सब कार्य में आचार्य के आधीन रह । क्रोध और झूठ को छोड़ दे । गाना बजाना, तेल फुलेल, अंजनादि सेवन न कर । मैथुन छोड़ दे और बिना कारण लिङ्गेन्द्रिय को छूकर वीर्यनाश न कर । उसे धारण कर ऊर्ध्वरेता हो, कम बोलने वाला और सभ्य हो ।

जितनी व्याख्याएँ प्राप्त हैं वे अधिकांश शारीरिक ब्रह्मचर्य सम्बन्धिनी हैं इसका कारण शरीर की उपयोगिता है क्योंकि धर्म का आदि साधन शरीर ही तो है, अतः यहां पर भी प्रथम शारीरिक ब्रह्मचर्य ही का विचार किया जाता है ।

कायेन मनसावाचा सर्वाविस्थानुसर्वदा ।

सर्वत्र मैथुनं त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

याज्ञवल्क्य

अर्थात् शरीर, मन, वाणी से सब दशाओं और सब स्थानों पर मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है । ब्रह्मचर्य सब प्रकार से कामवासनाओं से दूर रहने ही को कहते हैं, विवाह न करने का नाम ब्रह्मचर्य नहीं है । प्राचीन ऋषियों

ने मैथुन के आठ अङ्ग कहे हैं और इन आठों से बचे रहने को ब्रह्मचर्य माना है ।

स्मरणं कीर्तिनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं ।

संकल्पोध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥

एतन्मैथुनमाष्टङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

अर्थात् स्त्री को पुरुष वा पुरुष को स्त्री वा विषयवासना की बातों का ध्यान, कथा, हास्य, विषय की दृष्टि से देखना, गुप्त भाषण, संकल्प, प्रयत्न और समागम इन आठों प्रकार के मैथुन को छोड़ देना ब्रह्मचर्य है ।

१ स्मरण—विषय की बार २ चिन्ता कर पूर्व किये, कहे, सुने दुष्कार्य को फिर स्मरण करना, विषयवासना की चिन्ता में मग्न रहना, प्रथम प्रकार का मैथुन है । इस चिन्ता से मन का खिचाव वीर्य को रक्त से प्रथक करने की ओर हो जाता है और वीर्य को ओजावस्था में परिणित होने का कार्य स्थगित हो जाता है । दुश्चिन्ता अधःपतन का प्रथम सोपान है ।

मनको सर्वदा सद्विचारों में न लगाये रहने से उसमें आप ही आप किसी असद्विचार का वास होजाता है । अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कहावत है कि शून्य मन भूतों की क्रीड़ाभूमि है मन की गति स्वभावतः चंचल और अधोगामिनी है । एक बार उसकी गति बुरी होजाने से उसको अच्छे मार्ग में लाना

कठिन होजाता है। स्मरणमैथुन का अनिष्ट परिणाम यह होता है कि मनुष्य चिन्ता करते २ निर्लज्ज होजाता है और फिर चिन्ता व्यसन का रूप धारण कर मनुष्य को सर्वनाश की ओर अग्रसर कर देता है। गीता में भगवान् कृष्ण का आदेश है:—

ध्यायते विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

अर्थात्—“विषयभोग का विचार करने से उसमें आसक्ति होती है। आसक्ति से पाने की इच्छा उत्पन्न होती है और (न मिलने पर) इच्छा से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविचार होता है अविचार से भ्रम होता है। भ्रम से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धिनाश से सर्वनाश होता है” ।

२ कीर्तन—अपने मनोगत दुष्टभावों को वाक्यों द्वारा प्रकट करना, वैसे वाक्यों को सुनने सुनाने में प्रीति रखना, अश्लील कथा और वैसी पुस्तकों को पढ़ना दूसरे नम्बर का मैथुन है। इससे भी वीर्य दूषित होकर नष्ट होजाता है। जब किसी का मन बुरे भावों से भर जाता है तो उन भावों का वाणी द्वारा प्रकटन अवश्यम्भावी है, मन और वाणी का अकाट्य सम्बन्ध है। “यन्मनसा ध्यायति तद्वाचावदति” जो

मन से विचारा जाता है वह वाणी से निकलता है और जो वाणी से बोलता है वैसा ही कर्म करता है । यह विषयकीर्तन कई रूप धारण करता है, इसका एक रूप दुर्व्यसन और कामोत्पादक पदार्थों की अलोचना भी है और इसी कारण उपरि लिखित शिक्षाओं में कौशील्य अर्थात् गाना बजाना नृत्य आदि निन्द्य तथा त्याज्य कहे हैं ।

आधुनिक स्कूल कालिजों की दशा इस विषय में बड़ी ही शोचनीय है वहां पर सभ्यता और सामाजिकता का अर्थ है यह हो रहा है । जो विद्यार्थी कुछेक नष्टवीर्य, नष्टजीवन विद्यार्थियों की गन्दी गोष्ठी में सम्मिलित नहीं होता है वह सभ्य नहीं कहा जा सकता । और मित्रता की पहिली सीढ़ी तो यही है कि अपनी बीती तथा दूसरों की सुनी हुई दुर्वासनाओं की समालोचना की जावे । यहां तक होता है कि खुले हुए मुशाइरों में गन्दे प्रेम और विषयकीर्तन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है । विद्यार्थियों की इस दुष्प्रवृत्ति के समर्थक कुछ मनचले मास्टर तथा प्रोफेसर साहबान भी देखे जाते हैं पर इस सभ्यता और सामाजिकता (Etiquette and sociality) का परिणाम यह हुआ है कि १५ प्रतिशत विद्यार्थी स्वप्नदोष से दूषित सुने जाते हैं ।

३ प्रेक्षण—तीसरे नम्बर का व्यभिचार कुदृष्टि है, सुन्दरता पर आकर्षित होना, सुन्दर वस्तु की श्लाघा करना, उस पर प्रेमदर्शना दूसरी वस्तु है और कामभाव से बुरे विचारों को

रख कर किसी स्त्री की ओर घूरना और बात है। प्रकृति के सौंदर्य को देख कर हम प्रसन्न होते हैं, माता, भगिनी और पुत्रों की सौंदर्यवृद्धि के भी इच्छुक होते और प्रसन्न भी होते हैं पर उसका प्रतिफल पवित्र स्नेह श्रद्धा और भक्ति है, और कामभाव से पराई स्त्री को चोर की तरह ताकने का फल विषय वासना की वृद्धि है। इस चौरवृत्ति से मनुष्य में इतनी कामुकता बढ़ जाती है कि संसार की समस्त स्त्रियों को वह उपभोग्य समझने लगता है। उसकी दृष्टि दूषित होते २ मन भी दूषित हो जाता है और अपने इष्ट से गिरने लगता है फिर वह शृङ्गार की सभी वस्तुओं से कामोत्तेजना प्राप्त करना है। इस प्रवृत्ति का प्रभाव शरीर पर इतना अधिक पड़ता है कि वीर्य अति निर्बल होकर बहुत साधारण पदार्थों के दृश्य से गिर जाता है। जिन पदार्थों में ज्ञानवान तथा साधारण संयमी पुरुष कुछ कामोद्दीपन नहीं पाना उन पदार्थों को देख कर असंयमी को कामोद्दीपन होता और वीर्य स्त्रिलित हो जाता है।

कीर्तन और प्रेक्षण मैथुनों ने हमारे स्कूल और कालिज के विद्यार्थियों के हृदयों को बुरी भांति आक्रान्त कर रक्खा है इसकी पुष्टि स्त्रियों के स्नानघाटों के समीप खड़े हुए विद्यार्थियों के झुण्ड और मेले में स्त्रीसमूह के पीछे जाने वाले विद्यार्थी समुदाय के आचरणों को कुछ समय तक ध्यान पूर्वक निरीक्षण करने से हो सकती है। इसका कारण वर्तमान दूषित शिक्षा-प्रणाली है जिसका मुख्य उद्देश्य दलितों के मुँह तैयार करना

और विद्यार्थियों के संरक्षकों का अपनी सन्तान को रखा कमाने की मशीन बनाने मात्र का विचार है ।

४ केलि:—स्त्रियों के साथ खेलना हास्य विनोद करना केलिनामात्मक मैथुन है। जिन स्त्रियों के साथ पवित्र सम्बन्ध नहीं है उनके साथ खेलने कूदने विनोद करने से स्वाभाविक बात है कि कामोद्दीपन होकर वीर्य उत्तेजित हो । स्वामी शङ्कराचार्य का वचन है—

“का शृङ्खला प्राणभृतांहि नारी, दिव्यं व्रतं
किंच समस्तदैन्यम्”

और भी कहा है—

घृतकुम्भसमानारी तप्राङ्गारसमः पुमान् ।

तस्माद् घृतं च वन्हिंच नैकत्र स्थापयेद्बुधः ॥

अर्थात् स्त्री घृत के घड़े के समान और पुरुष तपे हुए अङ्गारों के समान है इस लिये बुद्धिमान घृत और अग्नि रूप स्त्री पुरुष को इकट्ठा नहीं करते ।

५ गुह्यभाषण—सामान्यतः भली वार्ता के लिये एकान्त वा छिपाने की आवश्यकता नहीं होती । दुष्ट मंत्रण और कुचेष्टा सम्बन्धी वार्तालाप ही जिसका प्रकाश करना अधिकांश में लज्जास्पद होता है गुह्यभाषण का हेतु होती हैं । स्त्रियों से एकान्त में वार्तालाप करने से मन के ऊपर से लज्जा का आवरण हट जाता है और ऐसी अवस्था में मन को गिरजाने का

पूण अवसर रहता है, जो कामवासनाओं की ओर आकर्षित करता है। अपने मित्रों के साथ दुष्ट वार्तालाप करने का फल भी विषयवासनाप्रदीपन है। गुह्यभाषण को व्यभिचार का मंत्री समझ उससे सदैव दूर रहना चाहिये।

६-७ संकल्प और अध्यवसाय—यह दोनों एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। किसी बातका मनमें संकल्प किया जाता है और उसी संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने को अध्यवसाय कहते हैं। एक करने का निश्चय करना है और दूसरा उसी को करने लगना है—व्यभिचार का निश्चय और उसकी पूर्ति के लिये कार्य करना है। जब मनुष्य कामान्ध होजाता है और अपनी कुचेष्टा की पूर्ति में लीन होजाता है तो उसका शील, लज्जा तथा ज्ञान नष्ट होकर वह पशुवत होजाता है।

८ क्रियानिवृत्ति—उपरोक्त अङ्गों या किसी विशेष मैथुन-प्रकार से उत्तेजित होकर किसी रीति से वीर्य स्खलित करने को क्रियानिवृत्ति कहते हैं। चाहे किसी रीति से कोई धातु मनुष्यशरीर में से निकाली जाय कुछ न कुछ हानि अवश्य होती है और वीर्य तो एक बहुमूल्य पदार्थ है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मासान्मेदः प्रजायते ।

मेदसोस्थि ततो मज्जा मज्जः शुक्रस्य सम्भवः ।

अर्थात् “भोजन के पचने पर रस, रस से रक्त, रक्त से मांस; मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा और

मज्जा से वीर्य पैदा होता है” । इनका तात्पर्य यह है कि वीर्य सातवीं धातु और छै धातुओं का सार है । हमारे कुमारों के जीवन विशेषतया इसकी महत्ता न जानने के कारण ही नष्ट होते दिखाई पड़ते हैं । विद्यार्थियों को स्कूल कालेज तथा घर पर भी स्वास्थ्य और व्यायाम पर शिक्षाएं मिलती हैं पर इस सार वस्तु के विषय में वे तब तक अन्धकार में रक्खे जाते हैं जब तक वे उसका ज्ञान अपने जीवन का भूल्य देकर किसी दुष्ट से नहीं सीखलेते वा बालविवाहरूपी राक्षस के आखेट होकर जीवन का स्वरस नहीं खोदेते । आजकल के कुमारों की दशा किसी से छिपी नहीं है उनके दुबल शरीर, कान्तिहीन मुख, उत्साहहीन मन आदि के उत्तरदाता अधिकांश में उनके संरक्षक और गुरुवर्ग ही हैं ।

हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि इस पुस्तक के अवलोकन करने वाले बालक इस बात से अज्ञात न रहें । हम उन्हें बतावेंगे कि वीर्य क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, उसको धारण करने से क्या लाभ है । दूषित और शुद्ध वीर्य के क्या लक्षण हैं, वीर्य सम्बन्धी रोग होजाने पर क्या कर्त्तव्य है, ये सब बातें शरीरविज्ञानप्रकरण में बताई जायँगी ।

हम यह दिखा कर कि वीर्य नष्ट करने के कितने प्रकार हैं इस पुस्तक का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं समझते हैं । वीर्य-नाश का परिणाम चाहे वह प्राकृतिक मैथुन, स्त्रीप्रसङ्ग से किया जाय चाहे गुदामैथुन, हस्तमैथुन, पशुमैथुन आदि

अप्राकृत रीति से किया जाय अनिष्टकारक है। कुमारों को सब प्रकार के मैथुन से बचना चाहिये, यह बात ठीक है कि स्त्री-प्रसङ्ग से, यदि वीर्य परिपक्व और शारीरिक उन्नति पूर्ण होजाने पर किया जाय, तो हानि कम होती है और अप्राकृत रूप से अधिक, पर होती अवश्य है।

शारीरिक विकाश के हो चुकने और वीर्य के परिपक्व हो जाने पर ब्रह्मचर्य के समय की साधना की प्रखरता को न सह सकने के कारण ब्रह्मचर्य व्रत के तोड़ने में अधिक हानि न देख कर तथा सामाजिक कर्त्तव्य को ध्यान में रख कर आचार्यों ने ब्रह्मचर्य की अवधि रखदी है। पर यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि ऐसा करने में ऋषियों ने केवल हीनतर हानि को ही ग्रहण किया है क्योंकि अखण्डवीर्य और एकवार खण्डितवीर्य में बड़ा अन्तर है अखण्डवीर्यकी समानता खण्डित-वीर्य कदापि नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्यका समय पुरुषोंके लिये २५ और स्त्रियों के लिये १६ वर्ष है। इससे अधिक पुरुष क्रमशः ३६ वा ४८ तथा स्त्री २० वा २४ तक धारण कर सकती है।

ब्रह्मचर्य की उपलब्धि का सर्व प्रथम उपाय तो यह है कि समस्त प्रकार के मैथुनों को त्याग दे। मन में यह दृढ़ संकल्प करले कि मैं ब्रह्मचारी होऊंगा।

“यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी”

अर्थात् जिस मनुष्य की जैसी भावना होती है वह वैसा ही होजाता है। मनुष्य अपना गुरु और अपना दास है। यदि वह

जितेन्द्रिय और संयमी है तो वह अपना और अन्य असंयमियों का भी गुरु है और यदि अपनी इन्द्रियों का दास है तो वह अपना दास है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का दृढ़ संकल्प करके अपवित्र भावों को पास न फटकने दे। यदि कभी बुरे विचार बलपूर्वक आना चाहें तो परिस्थिति बदल दे। इस संकल्प को प्रति दिन ताज़ा रखते इसको सायंप्रातः दुहरावे जो कभी इसमें त्रुटि हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करे और विशेष दृढ़ता का संकल्प करे।

मन को शुद्ध बनाये रखने की एक सर्वश्रेष्ठ विधि यह भी है कि कभी उसे ठाली या निकम्मा न रहने दे वरन् अच्छे कार्यों में लगाये रहे। प्राचीन ऋषिगण क्या ही उत्तम विधि से ब्रह्मचर्य का उपदेश करते थे वेदारम्भ संस्कार के समय ब्रह्मचारी अपनी कटि को मेखला से बांधता हुआ प्रतिज्ञा करता था:—

इयं दुरक्तं परिवाधमाना वर्णं पवित्रं पुन-
ती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसादेवी सुभगा मेखलेयम् ॥

पार० गृ० सू०

“अर्थात् मुझे यह मेखला कटि में बांधने योग्य (मुञ्जादि की बनी हुई) भगिनी के तुल्य सौभाग्यवती और देवी (सुन्दर चमकने वाली) निन्दायुक्त वचन को सब ओर से हटाती वर्णभाव को पवित्र करती हुई प्राण और अपान को

ठीक रखने के कारण बल देने वाली होकर अच्छे प्रकार प्राप्त हुई है” इस मंत्र में मेखला को स्वप्नादेवी बतलाया है जिस प्रकार बहिन के निकट होते हुए मनुष्य के मन की प्रवृत्ति दुराचार की ओर नहीं होती उसी प्रकार मैं इस मेखला को धारण करता हुआ मन से भी विषयवासना का चिन्तन न करूंगा ।

वीर्यरक्षा का मुख्य साधन मानसिक विचारों की शुद्धि है क्योंकि वीर्यकोष का मानसिक विचारों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है ज्यों ही किसी मनुष्य के मन में कामोत्तेजना होती है उसी समय वीर्यकोष में एक प्रकार का उद्वेग होता और वीर्य हिल जाता है, जो किसी न किसी प्रकार से नष्ट होजाता है । अतः आहार व्यवहार के शुद्ध होने पर भी मनोविचार को शुद्ध रखे बिना कोई लाभ नहीं हो सकता ।

ब्रह्मचारी को आरामतलब और शौकोन नहीं होना चाहिये उसके सोने का बिस्तर गुदगुदा न हो । ऋषि मनुजी लिखते हैं “एकः शयीत सर्वत्र” अर्थात् ब्रह्मचारी को सब स्थानों में अकेला शयन करना चाहिये । प्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक ऐस स्टाल अपनी प्रसिद्ध पुस्तक “What a young man ought to do” (नवयुवकीं को क्या कर्त्तव्य है) में पुष्ट शरीर और अच्छी तन्दुरुस्ती चाहने वाले पुरुषों को नरम बिस्तर पर सोने का निषेध करते हैं :—

“A single bed is always to be prepared both for married and unmarried people. When two

persons sleep in the same bed the one who has the stronger physical power is likely to absorb the vital forces from the weaker one. When other is affected with any tendency to consumption, has any skin disease or other malady he is likely to impart its evil influence, if not its actual contagion to the individual who shares the bed with him."

"अर्थात् विवाहित या अविवाहित दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिये एक शय्या (अलग बिस्तर) का होना ही सदैव अच्छा है जहां दो मनुष्य एक ही शय्या पर शयन करते हैं उनमें से जिसकी शारीरिक शक्ति अच्छी होती है वह सम्भवतः कमशक्तिवाले की असली ताकत को अपने में खींच लेता है और जहां उनमें से एक क्षयरोग से पीड़ित होने को हो या कोई चमड़े की बीमारी या और कोई रोग हो तो वह सम्भवतः उसका बुरा प्रभाव दूसरे पर जो कि उसके साथ सोता है डालेगा।"

ब्रह्मचर्य के साधनों में व्यायाम और प्राणायाम मुख्य हैं उनका विस्तृत वर्णन आगे किया जावेगा। ब्रह्मचर्य का तीसरा साधन उत्तम संगति है, संगति का मनुष्य के भावों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। जिस प्रकार की संगति में मनुष्य रहता है उसका स्वभाव अनायास ही वैसा हो-

जाता है। हमारे विचार में संगति का प्रभाव एक गुरु की शिक्षाओं से भी अधिक पड़ता है। गुरु की शिक्षाओं का प्रभाव बाह्य, पर संगति का आन्तरिक होता है। गुरु की शिक्षाएं सम्भव है नीरस हों पर संग का कार्यात्मक प्रभाव सरस न हो यह सम्भव नहीं। कुसंग बगल में सोने वाला वैरो है। बुरी संगति के सदृश ब्रह्मचर्य का शत्रु कोई नहीं है और सत्सङ्ग के समान कोई उत्तम साधन नहीं है। संसार में रहते हुए यह सम्भव नहीं कि कभी मन में दुष्ट विचार न आवें पर इन बुरे विचारों को मार्जन करने की सामर्थ्य एकमात्र सत्सङ्ग में है। जिस समय कामोद्दीपन हो उसी समय सत्सङ्ग में जाबैठे तो स्वयं ही काम शान्त हो जावेगा। यदि किसी सज्जन का संग न प्राप्त हो तो कोई उत्तम ग्रन्थ अवलोकन करने से भी लाभ होता है। ब्रह्मचर्य के लिये अकेला रहना हानिकारक है क्योंकि अकेले रहने से मनमें विकृत विचार चक्कर लगाने लगते हैं। अकेला रहना बन्द मकान में बैठने के समान है और चूंकि ब्रह्मचारी का विचाररूपी गृह संकुचित होता है किञ्चित् काल ही में वायु दूषित होजाती है और यदि शीघ्र ही बाहर से सज्जनमुखनिसृत वायुरूपी विचारों को प्रवेश न किया जाय तो आत्मा के पतित होजाने का भय उपस्थित होसकता है। अतएव अकेले न रहकर और दुष्ट विषयी तथा स्वार्थी पुरुषों की कुसङ्गति से बचकर श्रेष्ठ, धार्मिक, सदाचारी जनोंकी सङ्गति करनी चाहिये क्योंकि "Keep good comp.

any and you will be of numbers.” “अर्थात् अच्छे मनुष्यों की सङ्गति में रहो तो तुम्हारी भी गणना उनमें होने लगेगी” महाराज भर्तृहरि का वचन है:—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापसपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षुतनोति कीर्तिं,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंशाम् ॥

अर्थात् “बुद्धि की जड़ता को हरती, बाणी में सत्य को सींचती, मान को बढ़ाती, पाप को दूर करती, चित्त को प्रसन्न रखती और दिशाओं में कीर्ति को विस्तृत करती है कहो तो यह सत्सङ्गति पुरुष को क्या नहीं करती है”

पढ़े लिखे लोगों के लिये भयानक कुसङ्गति बुरी पुस्तकों की है, जिस प्रकार अच्छे ग्रन्थ श्रेष्ठ और सभ्य रचयिता की श्रेष्ठता और सौजन्य के सार होते हैं, उसी प्रकार बुरी पुस्तकें क्षुद्राशय मनुष्यों की दुष्टता और नीचता का कीचड़ होती हैं, जो धन और यश को नाश कर आत्मा को कलुषित कर देती हैं । जौन टाड लिखते हैं:—

“If you have an enemy whose soul you will visit with a heavy vengeance and whose damnation you would seal up for the eternal

world you have only to place one of these destroyers in his hands."

अर्थात् "यदि कोई तुम्हारा शत्रु है जिससे तुम बड़ा भारी बदला लेना चाहते हो और जिसको अनन्त समय तक परमात्मा के कोप में रखना चाहते हो तो तुम उसके हाथ में इन नाशकारी वस्तुओं (बुरी पुस्तकों) में से एक दे दो " ।

ब्रह्मचारी को विषयवासनावर्द्धक पुस्तकों नहीं पढ़ना चाहिये न वैसे राग सुने न चित्र न नृत्यादि देखे क्योंकि इन वस्तुओं का प्रभाव बालकों के शुद्ध हृदय पर "रङ्गःशुक्लपटे यथा" स्वेत वस्त्र पर रङ्ग की भांति बहुत भयानक पड़ता है । ऐस स्टाल साहब "ह्याट ए यङ्ग मैन आट दू डू" के पृष्ठ २४१ पर लिखते हैं:—

"No young man can look on obscene pictures without the danger of photographing upon his mind that which he might subsequently be willing to give thousands of dollars to obliterate."

अर्थात् "कोई युवक अश्लील चित्रों को बिना इस भय के नहीं देख सकता कि वह अपने मन पर वे चित्र अङ्कित करले कि जिनके मिटाने के लिये पीछे से वह सहस्रशः मुद्रा देने को उद्यत हो"

आगे चलकर आप उसी पुस्तक के पृ० २४७ पर नाच तमाशे और अश्लील नाटकों के विषय में लिखते हैं:—

“The debasing influence of the theatre produces quick results in the lives of young men. Moral principles which have cost christian parents months and years of care are banished in an hour.”

अर्थात् “थियेटरों का प्रभाव युवकों के जीवन में अति शीघ्र अपना परिणाम दिखलाता है वे धार्मिक भाव जिनके उत्पन्न करने में कृश्चियन (धार्मिक) माता पिताओं के महीनों और वर्षों का परिश्रम व्यय होता है घंटे भर में ही दूर हो जाते हैं” ।

सारांश यह कि शुद्धवातावरण और सत्सङ्गति ब्रह्मचर्य-रक्षा के अच्छे साधन हैं । इसके विपरीत कुसङ्गति और दूषित वातावरण ब्रह्मचर्य के लिये हानिकारक हैं । शुद्ध मन और काया ब्रह्मचर्यव्रत के आधार हैं और ऊपर दिखाये गये नियम ब्रह्मचर्य के साधन हैं उन पर चलने से कुमारों को लाभ होगा ।

शारीरिक स्वास्थ्य स्थिर रखने और शारीरिक विकास की वृद्धि एवं ब्रह्मचर्य साधन के लिये किञ्चित् शरीरविज्ञान की आवश्यकता है जो आगे के प्रकरण में दिया जायगा ।

व्यायाम और प्राणायाम ।

जन्म से ही मनुष्य शरीर में चय और विचय आरम्भ हो जाता है। इस चय विचय की व्यवस्था ही स्वास्थ्य सुधार का आधार है। उत्तम वस्तुओं को स्थान देने के लिये निष्कृष्ट वस्तुओं को फेंकना ही पड़ता है। यदि कोई मनुष्य यह चाहे कि वह अपने घर का कूड़ा कर्करा कुछ बाहर न फेंकेगा तो अवश्य थोड़े समय में ही उसके स्थान पर कूड़े कर्करा के ढेर के अतिरिक्त अच्छी वस्तुओं का अभाव ही होगा। प्रथम तो उत्तम वस्तुओं को स्थान न मिलेगा दूसरे कुछ वस्तुओं में स्वाभाविक शत्रुता है, एक के रहते हुए दूसरी का होना असम्भव होगा। ठीक यही दशा मनुष्य शरीर की है इस विचित्र भवन में भी कूड़ा कर्करा एकत्रित होता रहता है। उसको निकाल कर फेंकने की उसी भांति आवश्यकता है जिस प्रकार साधारण गृह सस्मार्जन की। इस सस्मार्जन का व्यायाम एक स्वाभाविक और सुलभ उपाय है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को ऐसे वातावरण में रहना पड़ता है जिसका उसके ऊपर बहुत प्रभुत्व है। उसको ऐसे उपकरणों का उपयोग करना पड़ता है जिनके विषय में वह बहुत कम स्वच्छन्द है। उसको अनेकानेक आवरणों के साथ जीवन यात्रा करनी पड़ती है। घने २ नगरों की आबादी, उनकी मैली गलियाँ, गन्दी वायु

मोटर और गाड़ियों की उड़ती हुई धूल, बड़े २ पुतलीघरों, रेलों और अन्यान्य इंजनों का उगला हुआ विपैला धुआं सभी स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। राजनैतिक अवरोध, सामाजिक अवरोध और यदा कदा धार्मिक अवरोध भी हमारे स्वास्थ्य के लिये प्रतिबन्ध हैं। इनका अनिष्टकारक परिणाम अवश्य होता है। इस अनिष्ट को दूर करने के अतिरिक्त कोई उपाय कुमारों के हाथ में नहीं हैं। इनका मूल्य रोग है जिन्हें प्राकृतिक विरेचन कहें तो अत्युक्ति न होगी। इन सब की अव्यर्थ औषधि व्यायाम है।

प्राकृतिक स्वास्थ्यवृद्धि का सब से बड़ा प्रतिबन्ध आधुनिक अप्राकृत जीवन और रहनसहन है। यदि हम पिसा हुआ आटा न खाकर गेहूं खासकें तो बहुत सम्भव है कि हमको घी दूध खाने की आवश्यकता न पड़े और हम अधिक स्वस्थ रहें यदि हम अपने को कपड़ों से लाद २ कर कमज़ोर न बना लें तो सम्भव है कि न्यूमोनिया अधिक न सतावे। यदि हम मिट्टी के तैल, गैस और विद्युत के प्रकाश से बच सकें तो हमारे नेत्र अधिक तेजयुक्त रहें। यदि कपड़े पर धूलि न डाली जाय तो उसको झाड़ने और धोने की आवश्यकता नहीं, पर जब धूलि-वर्षा अवश्य होना है तो कपड़े को झाड़ना और धोना भी नितान्त आवश्यक है। जब सभ्यता के प्रसादरूप अप्राकृतिक जीवन से हम नहीं बच सकते तो उसके आवश्यक प्रभाव को वृत्तियों का मार्जन करना परमावश्यक है।

यह सम्भ्यता आज की नहीं बरन् परम्परागत है और उसके कुछ एक दोष तो हमारे जन्म से पूर्व ही हमें उत्तराधिकार में मिल चुके हैं, जिन्हें हम चाहने पर भी दूर नहीं कर सकते । इस अप्राकृतिक जीवन के दोषों को दूर करने का एकमात्र साधन व्यायाम है । यह सत्य है कि व्यायाम के अर्वाचोन तथा प्राचीन प्रकार अप्राकृतिक हैं । डण्ड, बैठक, मुग्दर आदि तथा जमनास्टिक; डम्बल चैन आदि के व्यायाम प्राकृतिक नहीं हैं । प्राकृतिक व्यायाम चलना, दौड़ना, पेड़ पर चढ़ना, तैरना, भोजन प्राप्ति के लिये परिश्रम करना आदि ही कहे जा सकते हैं । पर जब हम सौ मील की यात्रा बिना पैर हिलाये ही कर सकते हैं और बिना ही पानी में हस्तचालन किये नदी तर सकते हैं और कुर्सी पर बैठ २ और कर्भा २ लेटे हुए प्रभूत भोजन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं तो स्वास्थ्य स्थिर रखने के लिये इस प्राकृतिक व्यायाम का स्थान अप्राकृतिक व्यायाम को अवश्य देना होगा, नहीं तो उसका परिणाम स्वास्थ्यहानि और अन्त में असामयिक मृत्यु अवश्य भोगना पड़ेगा । “Like meets like” जैसे का प्रतिरोध वैसाही कर सकता है । कहावत है “विषस्य विषमौषधम्” विषकी विष ही दवा है । अप्राकृतिक जीवन की हानियों को अप्राकृतिक व्यायाम ही दूर कर सकता है ।

ऊपर के विवेचन से सिद्ध है कि आधुनिक समय में स्वास्थ्य स्थिर रखने के लिये व्यायाम परमावश्यक वस्तु है ।

व्यायाम की आवश्यकता दैनिक है। प्रति दिन शरीर के बलानुसार व्यायाम का अभ्यासी होना चाहिये क्योंकि:—

व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ।

विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषः परिपच्यते ॥

अर्थात् “नित्य व्यायाम करने वाले को विरुद्धान्न भी पच जाता है। व्यायाम करने से शरीर के अङ्ग सुडौल तथा दृढ़ होते हैं और मुख की कान्ति बढ़ती है। शरीर अन्तः शक्ति का द्वार है। शरीर के बिना मानसिक शक्तियाँ कुछ नहीं कर सकती। अस्वस्थ मनुष्य बिना अस्त्रशस्त्र का योद्धा है जिसका शौर्य न कोई जान सकता है और न लाभ ही दे सकता है कहा है:—

“Care for physical health in the first place for if there is a morbid mind the bodily organs are not doing their work as they ought to do.”

अर्थात् “सब से प्रथम शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखवो क्योंकि यदि कोई मन अस्वस्थ है तो शारीरिक अवयव काम नहीं कर सकते जैसा कि इन्हें करना चाहिये”

मोटा-स्थूल शरीर स्वस्थ नहीं है और न कृश शरीर। मोटापन शरीर में दो कारणों से होता है प्रथम तो मेदाधिक्य से, दूसरा पुष्टी के विकसित होने से। यह दूसरे प्रकार का मोटा शरीर ही स्वास्थ्य का स्थान है यद्यपि आगे चल कर बताया जायगा कि यह बात भी सर्वथा सत्य नहीं है। पहिले प्रकार

का मोटापन जो मेदा (चर्बी) की अधिकता के कारण होता है स्वस्थता का चिन्ह नहीं है और अधिक मात्रा में वृद्धि को प्राप्त मेदा मेदोवृद्धि नाम का रोग है जिसमें रुधिर की गति मन्द होकर हृदय को हानि पहुँचती है । मेदावृद्धि का पहिला फल अधिकतर नपुंसकता और दूसरा शीघ्र मृत्यु भी देखा गया है । कृशता यदि किसी रोग के कारण नहीं है तो अस्वस्थता का प्रमाण नहीं है । परन्तु कृशता उत्तम स्वास्थ्य का चिन्ह कदापि नहीं कही जा सकती ।

स्वस्थ शरीर वह है जिसके प्रत्येक अवयव यथासमय यथावत् कार्य करने में क्षम हों, शरीरस्थ प्रत्येक धातु रस से लेकर वायु तक उचित परिमाण में शुद्ध रूप से उपस्थित हों, जिसके मन और बुद्धि नियमित रूप से उचित कार्य सम्पादन करते हों, शरीर के अवयव सामान्यतः सम और सुडौल हों ऐसे ही शरीर को स्वस्थ शरीर कहेंगे । यदि कोई धातु समय से पूर्व बनने लगे अथवा उचित से अधिक या कोई अवयव समय से पूर्व काम करने लगे तो समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ नहीं है । और यदि किसी इन्द्रिय या अवयवकी सहन-शक्ति वा संयमशक्ति कम होजाय तो भी समझना चाहिये कि शरीर अस्वस्थ है और जिस किसी का मन वा बुद्धि अपने कार्य करने में क्षम न हो शरीर कब स्वस्थ कहा जा सकता है ।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है व्यायाम का उद्देश्य है सर्व प्रथम स्वास्थ्य स्थिरता, स्वास्थ्य सुधार और इसके बाद शारी-

रिकोज्ञति तथा शरीरविकाश, अतएव चाहे किसी पद्धति का अनुसरण किया जावे इस बात का ध्यान रखा जाय कि जो उद्देश्य व्यायामका है उसे न भूलें। भारतवर्ष तथा अन्यान्य देशों में कई पद्धतियां प्रचलित हैं। व्यायाम के विषय में लोग प्रत्यक्ष फल देखते हैं इसलिये जिस पद्धति का फल अच्छा प्रतीत होता है उसी का अनुसरण करने लगते हैं, परन्तु व्यायाम का फल भी प्रकृति, अवस्था तथा वातावरण के आधीन है। इसलिये एक ही पद्धति प्रत्येक अवस्था और प्रकृति के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती और न एक ही मनुष्य के लिये एक ही पद्धति पूर्णतया लाभदायक हो सकती है। अतएव पद्धति चुनने के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि बुद्धि से कार्य लिया जाय। यह जानलेनेकी आवश्यकता है कि कौन २ सा व्यायाम किस २ अवयव को लाभदायक है। इसके पश्चात् परिमाण का ज्ञान होना आवश्यक है बहुधा देखा गया है कि परिमाण से अधिक व्यायाम करने से लाभ के स्थान पर हानि हुई है। तीसरी बात जिसका ज्ञान आवश्यक है शरीर की न्यूनता है अर्थात् हमारे शरीर का कौन अवयव क्षीण है इसके अतिरिक्त अपनी प्रकृति और देश काल का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये यथा शीतप्रधान देशों में तथा शीतकाल में अधिक परिश्रम किया जा सकता है, गुरुपाक तथा पौष्टिक भोजन किया जा सकता है। शरीर को सुडौल बनाने तथा व्यायाम करने का अच्छा समय शीत वा बसन्त है परन्तु

इंगलिस्तान वा पहाड़ी देशों में गर्मी के मौसिम ही में खुली हवा में व्यायाम किया जा सकता है। प्रत्येक कुमार अपने बलानुसार व्यायाम चुन सकता है।

स्मरण रहे कि व्यायाम का प्रयोजन किसी अङ्ग विशेष से कुछ परिश्रम करना नहीं है, वरन् व्यायाम में मनःशक्ति का उपयोग मुख्य है। सहस्रों बार हथौड़ा उठाकर पटकने वाले लुहार का हाथ न तो सुदृढ़ ही होता है न सुडौल, आठ २ घंटे लगातार फावड़ा चलाने वाला मज़दूर या बारह २ घंटे कड़ी भूमि को जोतने वाला कृषक एक वा दो घंटे व्यायाम करने वाले पहलवान की समता नहीं कर सकता है। डम्बेल को हाथ में लेकर दस या बीस हरकत करने वाला अपने हाथ को सुदृढ़ और सुडौल बनाने के संकल्प के साथ ऐसा करता है और लौहकार का उद्देश्य हाथ में भारी हथौड़ा लेकर पटकने में लोहे को पीटना मात्र है। इसी भांति कृषक और मज़दूर का उद्देश्य अपने शरीर को सुदृढ़ और सुडौल बनाना नहीं है पर पहलवान अपने परिश्रम के एक २ जलबिन्दु से अपनी शारीरिक शक्ति के विकाश का संकल्प निभाता जाता है। यह इसी मनोयोग का फल है जो इन उदाहरणों में इतने अन्तर का कारण है। सुन्दर चाल ढाल मनोहर भाषण तथा प्रभावोत्पादकता आदि गुण जो कुमार अपने शरीर में चाहे मनोयोग से प्राप्त कर सकते हैं। इनके लिये किसी विशेष प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता नहीं है।

व्यायाम में दोष उनका कारण तथा निराकरण ।

यह जनप्रवाद है कि पहलवान अल्पजीवी होते हैं । जहां कोई मल्ल रोगी हुआ या तो जीवनयात्रा ही समाप्त करेगा या शोचनीय शारीरिक अवस्था में रहेगा । यह भी कहा जाता है कि व्यायाम से स्फूर्ति चली जाती है और बुद्धि का नाश होजाता है । इस जनप्रवाद में बहुत सा अंश सत्य है परन्तु वास्तव में ये व्यायाम के दोष नहीं हैं इनका कारण व्यायाम करने वालों का प्रमाद है और उनके मनोयोग के दुरुपयोग का फल है । न इन आधुनिक मल्लों का उद्देश्य स्वस्थ शरीर होता है, न इन्हें स्वस्थ शरीर प्राप्त होता है । इन मल्लों का एकमात्र उद्देश्य कुछैक बाह्य अङ्गों को बढ़ाना और दृढ़ बनाना तथा पाशविक शक्ति का सम्पादन होता है । बुद्धिकार्य को तो वे भुला ही देते हैं । फल यह होता है कि पहलवानों के बाह्य अङ्ग बड़े २ और पत्थर के समान कड़े होजाते हैं, पर उनके आभ्यन्तर अवयव जिन्हें शरीर का सर्वस्व कहें तो अत्युक्ति न होगी, यथा हृदय, फुसफुस, अमाशय आदि संकुचित और क्षीण होजाते हैं अतः जहां बाह्य अवयवों में कुछ भी धक्का पहुंचा वहां भीतर तो पहिले ही से खोखला है शारीरिक स्वास्थ्य का दिवाला निकल जाता है । वास्तवमें स्वस्थ शरीरके लिये हृदय आदि आन्तरिक अवयव ही मुख्य हैं । इन पहलवानों के व्यायाम में एक और दोष यह होता है कि वे व्यायाम में अपने शरीर को सुडौल बनाने का ध्यान नहीं रखते और न

आसन को जमाते हैं, फल यह होता है कि उनका शरीर बेडौल और चाल ढाल दूषित होजाती है।

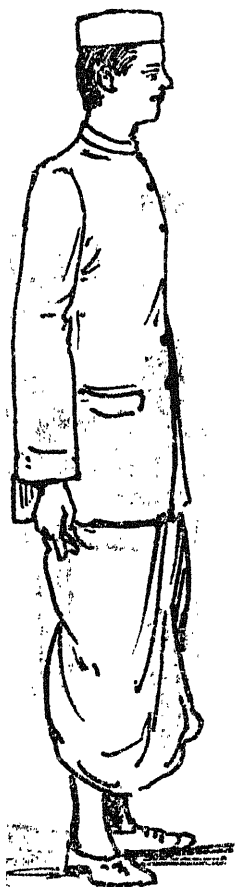
अमरीकन स्वास्थ्यसुधारक डाक़र चिचले का मन्तव्य है कि व्यायाम का उद्देश्य कतिपय पुट्टों को कड़ा बनाना ही नहीं होना चाहिये वरन् आन्तरिक अवयवों का विकास और सहन-शक्ति का वर्द्धन होना चाहिये। उनका कथन है कि किसी विशेष प्रकार का व्यायाम जिससे बाह्य अवयव फूले हुए दिखाई दें श्रेय नहीं है वरन् हमें हर समय अच्छे प्रकार चलने, उठने, बैठने, खड़ेहोने, का अभ्यासी होना चाहिये। शरीर को सुडौल और स्वस्थ बनाने के लिये प्रतिक्षण व्यायाम करने की आवश्यकता है। जिन अवयवों का कार्य सोते जागते कभी नहीं रुकता उनके कार्य में उत्तमता लाने के लिये हमें उत्तम वृत्तियां उत्पन्न करना चाहिये। अर्थात् फुस-फुसों की शक्तिवृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य के श्वासोच्छ्वास का ढंग उत्तम हो। उत्तम रक्तसंचार और सुडौल शरीर बनाने के लिये आवश्यक चाल और ठवर्न के उत्तम बनाने का प्रतिक्षण ध्यान रहे। सामने के पृष्ठ में दिए हुए चित्र नं० १ को देखने से भले, बुरे ढङ्ग से खड़े होने के प्रकार भली भांति समझ में आजावेंगे। कुमारों को इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। उनके लिये इन स्वास्थ्यकर आदतों का अभ्यासी होना स्वर्ण में सुगन्ध के समान है—स्वास्थ्य लाभ के साथ २ सभ्यता की भी प्राप्ति होती है।

चित्र नं० ३

खड़े होने का ढंग

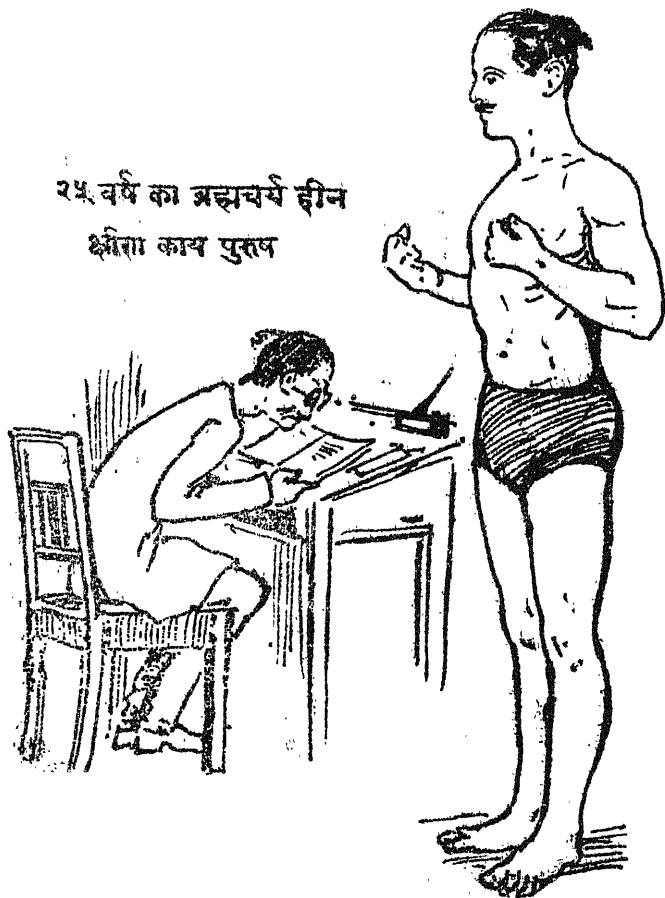
शुद्ध

अशुद्ध



२५ वर्ष का ब्रह्मचारी

२५ वर्ष का ब्रह्मचर्य हीन
क्षीना काय पुरुष



मनोयोग के विषय में कुछ ऊपर लिखा जा चुका है अष्ट-
 सिद्धिनवनिधियों के दाता योग का मुख्य साधन यही मनो-
 योग है । “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” योग चित्तवृत्तियों
 के संयम का नाम है । मन सब इन्द्रियोंका राजा है यह सम्भव
 नहीं कि जो कार्य राजा करना चाहे वह न हो सके । यदि
 सूक्ष्मतया देखा जाय तो मनोयोग द्वारा रुधिरसंचार कर
 हृदय की गति तक प्रभावित की जा सकती है । मनोयोग द्वारा
 जिस इन्द्रिय में इच्छा हो उसी में सारे शरीर की शक्ति का
 संचार किया जा सकता है । मनोयोगप्राप्ति का प्राणायाम
 मुख्य साधन है इसीलिये भारत के प्राचीन ऋषियों ने व्यायाम
 से प्राणायाम को विशेषता दी थी । क्योंकि बिना मनोयोग के
 व्यायाम का जैसा चाहिये फल नहीं होता । आन्तरिक अवयव
 तथा आन्तरिक क्रियाओं को प्रभावित करने का एकमात्र
 साधन मनोयोग है अतएव इस कार्य के लिये तो प्राणायाम
 की आवश्यकता थी ही, बाह्य अङ्गों के सुधार के लिये इस
 प्राणायाम के साथ कतिपय विशेष आसनो का संमिश्रण
 कर देने से प्राणायाम से बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार
 के शारीरिक स्वास्थ्यसुधार का होना सम्भव होगया । यही
 कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों में व्यायाम का इतना उल्लेख न
 होकर सर्वत्र प्राणायाम की महिमा गायी गई है और उसकी
 वैज्ञानिक विवेचना तक उपलब्ध है ।

मानसिक शक्ति को बलवान बनाने के लिये वर्तमान समय के भोम, प्रोफ़ेसर राममूर्तिजी नित्य प्राणायाम का अभ्यास करते और मन को एकाग्र करके एक ही विषय पर लगा देते हैं। कौतुक करते समय वह प्राण रोकते और मानसिक इच्छारूप बल को अङ्ग विशेष में अपनी इच्छाद्वारा भेजते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि शारीरिक बल मानसिक-शक्ति द्वारा प्राप्त होता है। उनका कथन है कि दिन में एक बार आध घंटा वा उससे अधिक शारीरिक बल की इच्छा के अतिरिक्त अन्य सब विचार मन से निकाल देने चाहिये। व्यायाम करते समय मन की वृत्ति व्यायाम ही पर लगे और उस के लाभों का चिन्तन करे।

प्राणायाम प्राणों का व्यायाम है। इससे प्राणशक्ति बढ़ती और आयुवृद्धि होती है। कतिपय विद्वानों का मत है कि जीवमात्र की आयु श्वासोच्छ्वासगणना पर निर्भर है। और सामान्यतया देखा भी जाता है कि जिस मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा है उसके श्वासोच्छ्वास परिमित समय में कम निकलते हैं और रुग्ण मनुष्य के अधिक। एक मिनट में ६ से लेकर १० श्वासोच्छ्वास स्वस्थ मनुष्य के निकलते हैं इससे अधिक श्वासों वाले मनुष्य को स्वस्थ न समझना चाहिये। प्रति मिनट ६ से कम श्वासोच्छ्वास विशेष प्राणशक्ति का चिन्ह हैं यदि श्वास उत्तम आती है क्योंकि केवल श्वासगणना ही सब कुछ नहीं है श्वासोच्छ्वास का प्रकार भी कुछ न कुछ

स्वस्थता पर प्रभाव रखता है। अतः श्वासोच्छ्वास की गणना को कम करना अपने स्वास्थ्य और आयु बढ़ाने का सर्वसुलभ उपाय है। प्राणायाम के अनेक लाभ हैं उन सब का यथावत् वर्णन करना इस पुस्तक की व्यवस्था के बाहर है।

प्राणायामविधि ।

मन को स्थिर करने तथा प्राणों को बलवान बनाने और ऊर्ध्वरेता बनने के लिये प्राणायाम नितान्त आवश्यक है। कुमारों को नित्य प्राणायाम करना चाहिये। इसके लिये किसी विशेष आसन की आवश्यकता नहीं है। योगशास्त्र का वचन है कि “स्थिरं सुखमासनम्” अर्थात् सुख से बैठने को आसन कहते हैं। प्राणायाम के लिये भद्रासन अथवा पाल्थी आसन पर्याप्त है और यदि इसको व्यायाम का रूप देना इष्ट हो तो खड़े २ भी कर सकते हैं। कमर पर दोनों हाथों को रखकर श्वास को शनैः २ बिना भटका लगाये खींचिये इसे पूरक कहते हैं। जब छाती पूर्णतया भरजाय तब गर्दन को पीछे और छाती को आगे करके किञ्चित्काल श्वास को रोक रखिये इसे कुंभक कहते हैं। अब उसी प्रकार श्वास को शनैः २ निकाल दीजिये। श्वास छोड़ते समय शिर को आगे कण्ठमूल में लगाइये और पेट को जितना होसके भीतर लेजाइये और किञ्चित्काल श्वासको बाहर रोक रखिये इसे रेचक कहते हैं। इस प्रकार एक पूरक, एक कुंभक तथा एक रेचक मिलकर एक प्राणायाम हुआ। ऐसे तीन प्राणायामों से प्रारम्भ करके हर

चौथे दिन एक प्राणायाम बढ़ाते जाकर तीस तक कर सकते हैं। दिन में सायं प्रातः दोनों बेलाओं में प्राणायाम करना चाहिये और कुमारों को रात्रि को सोने से पूर्व भी एक बार करना परम लाभदायक है। इस प्रकार एक दिवस में ६० प्राणायाम तक किये जा सकते हैं। भोजन किये हुए, ज्वर में और श्वासरोग तथा खांसीरोग में प्राणायाम न करना चाहिये। इस प्राणायाम के साथ निम्नोक्त ऊर्ध्वार्कषण विधि करनेसे स्वास्थ्य को अपूर्व लाभ पहुंचता है। भद्रासन का प्रकार चित्र नं० ४ के देखने से भलीभांति समझ में आजायगा।

किन्तु आसन योग का एक मुख्य अङ्ग है और शारीरिक स्वास्थ्य को ध्यान में रख ऋषियों ने निर्धारित किया है। इन आसनों के साथ प्राणायाम करने से आसन का उद्देश्य प्रतिक्षण मन में जमा रहता है, तथा शरीर सचेत रहता है। जो आसन आज कल साधु लोग दिखाते हैं उनमें अधिकांश तो दिखावे के लिये ही रचे हुए होते हैं और दूसरे ऋषिनिर्धारित आसनों के अशुद्ध रूप हैं उनकी नक़ल करने से लाभ के स्थान में हानि होने का भय है अतः कुमारों को कर्त्तव्य कुछ आसन यहां दिये जाते हैं और उनका प्रकार चित्रों से समझाया जाता है। इनका अभ्यास करने तथा बुद्धिद्वारा उचित रीति पर चलने से कुमारों को विशेष लाभ होने की आशा है। उनको अपने स्वास्थ्यसुधार के लिये वैद्यों के पास दौड़ने की शीघ्र आवश्यकता न पड़ेगी।

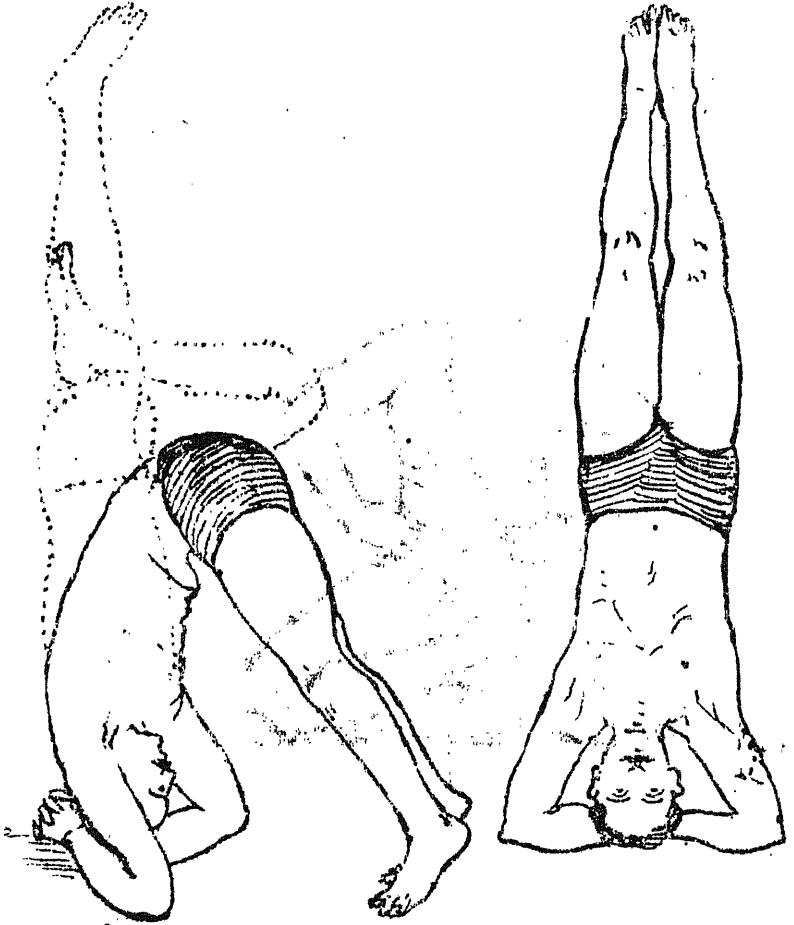
चित्र नं० ४

भद्रासन



चित्र नं० ३

शीर्षासन



शीर्षासन ।

पृथिवी पर सिर के बल खड़े रहने को शीर्षासन कहते हैं । पृथिवी पर मोटा गुदगुदा आसन बिछा कर उस पर सिर रखिये और दोनों हाथों का गुम्फा बनाकर सिर को पीछे से उस गुम्फे में साध लीजिये फिर पावों को ऊपर सीधा सतर कर दीजिये देखो चित्र नं० ३ । प्रथम इस आसन को किसी दीवार के सहारे करने से अभ्यास शीघ्र होजाता है । अभ्यास होजाने पर दीवार की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती और अधिक अभ्यास होजाने पर पावों को नीचे ऊपर जैसा चाहें शीर्षासन करते हुए मोड़ तथा हिला सकते हैं । ज़मीनसे ऊपर और ऊपर से ज़मीन तक लेजासकते हैं । देखो चित्र नं० ३ का दूसरा प्रकार । आरम्भ में इस आसन को १ या दो मिनट तक करना चाहिये फिर चार पांच दिन बाद २ या ३ मिनट तक, इसी प्रकार क्रमशः आध घंटा तक बढ़ा सकते हैं । ६ महीने में पूर्ण अभ्यास होजाता है और आशातीत लाभ दृष्टिगोचर होता है । इस आसन को स्त्री पुरुष दोनों ही कर सकते हैं । इससे कोई हानि नहीं और स्मरणशक्ति बढ़ाने तथा वीर्य स्थिर करने का यह अच्छा साधन है ।

सिद्धासन ।

अण्डकोश और गुदा के बीच में चार अंगुल प्रमाण स्थान है । इस स्थान में होकर वीर्यवाहिनी नाली तथा कामोद्दीपनी स्नायुएँ गुज़रती हैं । इस स्थान के मध्य भाग को हठयोग की

भाषा में मनुष्यभग कहते हैं। सिद्धासन करने के लिये वायें पाँव की एड़ी इस भगस्थान के ऊपर दृढ़ता से लगाइये और दाहिने पैर की एड़ी लिङ्गेन्द्रिय के ऊपर के भाग पर जमाइये। अब दाहिने पैर का बाहरी और वायें पैर का भीतरी गद्दा आपसमें मिल जायँगे। फिर वायें पैरकी एड़ीपर जोर लगाकर बैठ जाइये। शरीर को सीधा करके ठोड़ी को कंठमूल में लगा कर अथवा शीश को मेरु दंड की सीध में करके दृष्टि को भौहों के बीच (त्रिकुटी) में जमा दीजिये यही सिद्धासन है। देखो चित्र नं० ५। प्रारम्भ में चूतड़ों के नीचे एक छोटा तकिया रख कर अभ्यास करने से सरलता पड़ती है। इसका महत्व आसनों में इस लिये विशेष है कि स्वप्नदोष की यह अच्छी औषधि है और समस्त वीर्यविकारों को दूर करता है। परन्तु अधिक दिनों तक करने पर यह कामेच्छा को नाश कर देता है। अतः जो आजन्म ब्रह्मचारी नहीं रहना चाहते उनको इसे अधिक न करना चाहिए। इस आसन के साथ निम्न लिखित प्राणायाम करने से विशेष लाभ की आशा है।

आसन जमा लेने पर यह देखिये कि कौन नासारंध्र चल रहा है। अब दूसरे नासापुट पर अंगुली रख कर नासारंध्र को बन्द करके चलते हुए रंध्र से श्वास को खींचिये जब पूर्ण श्वास खिच जाय तो दोनों नासापुटों को बन्द कर लीजिये और पेट को छोटा बड़ा कीजिये और गुदा को ऊपर को संकोचन कीजिये। पेट के घटाने बढ़ाने की क्रिया ऐसी होना चाहिये कि

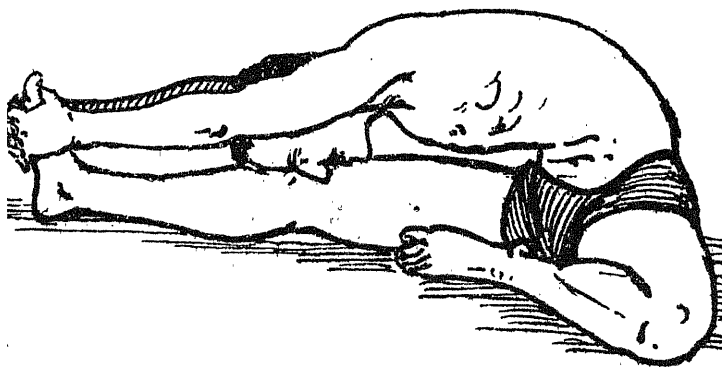
चित्र नं० ५१

सिद्धासन



चित्र नं० ६

जानुशिरसन



मानों लिङ्ग से कोई वस्तु ऊपर को खींच रहे हो । प्रारम्भ में ऐसा दो तीन बार ही कर सकोगे । अब दूसरे रंध्र से श्वास निकाल दीजिये और कुछ देर श्वास बाहर रोकिए यह एक प्राणायाम हुआ । अब दूसरे नासारंध्र से श्वास खींचिये और कुल क्रिया कर प्रथमसे बाहर निकालिये । इसी प्रकार बारी २ से प्रत्येक नासारंध्र से प्राणायाम कीजिये । आरम्भ में तीन प्राणायामसे अधिक न करना चाहिये । शनैः २ संख्या बढ़ाकर तीस तक कर दी जा सकती है । इससे स्वप्नदोष अवश्य दूर हो जाता है । इसके साथ में किसी सुयोग्य वैद्य द्वारा तैयार किया हुआ ब्राह्मी वृटी का कोई पौष्टिक योग सेवन करने से आरम्भिक काल की खुश्की आदि उपद्रव नहीं होते ।

जानुशिरासन ।

‘आम के आम गुठलियों के दाम’ । यह जानुशिरासन नामक आसन जिसे ‘लघुपश्मतान’ भी कहते हैं योगासन होने के अतिरिक्त एक अच्छा व्यायाम भी है । एक पैर की एड़ी को अंडकोश और गुदा के मध्य भाग में (मनुष्यभग स्थान) में लगाकर उसके तलवे को दूसरे पैर की जङ्घा में चपका दीजिये और अब दूसरे पैर को इस प्रकार फैला दीजिये कि उसका पञ्जा आकाश की ओर को हो । तत्पश्चात् फैले हुए पांव के पंजे को दोनों हाथों के गुम्फे में पकड़ कर उसी पांव के घुटने पर नाक या ठोड़ी लगाकर बैठिये । देखो चित्र नं० ६ । यह ध्यान रखना चाहिये कि फैले हुए पैर की जङ्घा पर दूसरे पांव के तले

का पूरा ज़ोरपड़े। यह आसन भी बड़ा उपयोगी है पर स्त्रियों के लिये यह उचित नहीं है।

ऊर्ध्वाकर्षणविधि ।

इन आसनों के अभ्याससे वीर्यदोष दूर होकर वीर्यकी गति ऊपर को होजाती है। इन आसनों के करते समय यदि ऊर्ध्वाकर्षण विधि का अभ्यास होजाय तो बहुत लाभ होसकता है। ऊर्ध्वाकर्षण विधि का तात्पर्य यह है कि गुदा और शिश्नप्रदेश को ऊपर खींचा जाय-गुदाको यथा शक्ति संकुचित किया जाय और ऐसी क्रिया की जाय मानों लिङ्ग से कोई वस्तु ऊपर को खींच रहे हो। इस क्रिया से समस्त उपस्थप्रदेश ऊपर को खिच जाता है और नाभिमें भी खिचाव जान पड़ता है। थोड़ा २ अभ्यास करने से उचित रीति से करने का अभ्यास शीघ्र हो जाता है। ऊर्ध्वरेता बनने की कुंजी गुदा और लिङ्ग को वश में करना है। इस क्रिया को प्रत्येक समय और हर जगह कर सकते हैं। इसके अभ्यास से वीर्य सम्बन्धी स्नायुएँ वीर्य या शुक्र बनाने का कार्य करना बन्द कर देती हैं और अन्तःस्त्राव बनने लगता है जिससे तेजोबल की वृद्धि होने लगती है। अन्तःस्त्राव के अर्थ के लिये शरीरविज्ञान प्रकरण देखिये।



शरीरविज्ञान ।

हमारे शरीर को उपमा एक विचित्र भवन से दी जा सकती है। भवन में कार्यानुसार ईंटे लगाई जाती हैं। कुए की ईंटें एक भांति की होती हैं, महाराबों में दूसरे प्रकार ईंटें की लगाई जाती हैं और दीवारों में तीसरे प्रकार की। हमारे शरीर के सब से छोटे अवयव सेलें कहलाते हैं उनके आकार आवश्यकतानुसार चपटे, गोल, नुकीले, बेलनाकार, तर्क-कार होते हैं। ये सेल रूप ईंटें इतनी छोटी और शरीर भवन में इस सफाई के साथ लगी रहती हैं कि केवल आंख से अर्थात् बिना किसी यंत्र विशेष की सहायता के न तो हम उन्हें देख ही सकते हैं और न पहिचान सकते हैं।

जिस प्रकार भवननिर्माण में एक लकड़ी या लोहे का ढांचा बना लिया जाता है और उस ढांचे का कार्य भवन के रूप को स्थिर करना तथा इमारत को साधना होता है उसी प्रकार हमारे शरीर के रूप को स्थिर करने तथा उसके साधने और रक्षा करने के लिये एक अस्थिपंजर है। कुछ अस्थियों का कार्य तो शरीर के स्वरूप को खड़ा करने का है, उनके बिना हमारा शरीर एक मांस का ढेर दिखाई पड़े, ऐसी अस्थियां हाथ, पैर, कमर, रीढ़ की हैं। हाथ पैर की अस्थियों को शाखाएँ कहते हैं। इनको शाखाएँ कहने का कारण हमारे

शाखाओं का वह वचन है जिसमें मनुष्यशरीर को ऊर्ध्वमूल-वृक्ष माना है, निस्सन्देह यदि मनुष्य के अस्थि पंजर को शिर के बल खड़ा कर दें तो उसका स्वरूप एक वृक्ष से मिलता है। हाथ पैर शाखाएँ और अँगुलियाँ टहनियाँ सी प्रतीत होती हैं और रीढ़ में जुड़ी हुई पसलियाँ और कमर की हड्डियाँ मिल कर वृक्ष का खोखला तना बन जाती हैं। शरीर के स्वरूप को स्थिर करने के अतिरिक्त कुछ अस्थियों का कार्य शरीर के कुछ परमोपयोगी अङ्गों की रक्षा करना भी है। धड़ के ऊपरी भाग को अंग्रेजी में chest अर्थात् सन्दूक इसी लिये कहते हैं कि इसमें सन्दूक की भांति शरीर की उपयोगी वस्तुएँ सुरक्षित हैं—धड़ में हृदय, फुसफुस, आमाशय, यकृत और वृक्क आदि ऐसे उपयोगी अङ्ग रहते हैं जिनमें कुछ भी धक्का लगने या बिगाड़ हो जाने से मनुष्य का जीवन असम्भव होजाता है। दूसरा परमोपयोगी अङ्ग मस्तिष्क भी एक बड़े सुदृढ़ खोखले के अन्दर रक्षित है। ये अङ्ग जिस प्रकार परमोपयोगी हैं उसी प्रकार बड़े ही कोमल और पेचीदा हैं अतएव इनके लिये दृढ़ अस्थियों के आवरण हमारे शरीर में उपस्थित हैं।

हमारे शरीर में अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ चलने तथा काम करने के लिये जोड़ लगे हुए हैं उनके सुभीते से मुड़ने और साथ ही साथ कड़े होकर कार्य सम्पादन के लिये भी अस्थियों की आवश्यकता है अतएव प्रायः सब ही जोड़ अस्थियों के हैं

यथा पोरे, कलाई, कुहनियां, कन्धे, गर्दन, जबड़े, कूल्हे, परियें, टखने सब ही शरीर के जोड़ अस्थि निर्मित हैं। शरीर में कुल मिलाकर डाकूरी मत से २०६ हड्डियां हैं। कुछ स्वतंत्र अस्थियां तो इस प्रकार मिल जाती हैं कि उनको स्वतंत्र कहने में साधारण लोग हिचकिचायेंगे, यथा सर की खोपड़ी बाहर से एक दिखाई पड़ती है पर वास्तव में वह कई अस्थियों का समुदाय है, उनके जोड़ खोपड़ी को देखने से जाने जा सकते हैं।

अस्थि भी जीवित पदार्थ है और वर्द्धनशील है, शरीर में कोई मृत वस्तु नहीं रह सकती। इसी सिद्धान्त पर अस्थियों में जोड़ मिलाने की विद्या का आविष्कार हुआ है, एक जीवित अस्थि में उसी प्रकार की दूसरी जीवित अस्थि का जोड़ मिला देने से वे एक दूसरे को पकड़ लेती हैं और बढ़ने लगती हैं। गत यूरोपीय महासमर में इसका प्रयोग बड़ी सफलता से किया गया है। सूक्ष्मतया निरीक्षण करने से जो अणुवीक्षक यंत्र से सुलभ है अस्थि की रचना जीवित अस्थिसेलों, कुछ सौत्रिक तन्तु और कुछ चूना आदि खनिज पदार्थों से हुई दिखाई पड़ती है। अस्थियों के बीच २ में बहुत बारीक रक्तनालियां भी रहती हैं जिनके द्वारा उनका पोषण होता रहता है। बड़ी २ अस्थियां बीच में पोली होती हैं और उनके खोखले में मज्जा भरी रहती है। तेज़ाब में डाल देने से अस्थि का खनिज भाग गल जाता है, और हड्डी इतनी मुलायम होजाती है कि उसमें कपड़े की भांति गांठ लगाई जा सकती

है, अस्थि को जलाने से उसका जीविन भाग जल जाता है और वह कुड़कीली होजाती है ।

बालकों की अस्थि में सजीव पदार्थ अधिक रहता है और खनिज पदार्थ कम, इसी लिये उनकी अस्थियां कम टूटती हैं और शीघ्र जुड़ जाती हैं । आयु के बढ़ने से तथा वृद्धावस्था में अस्थियों का सजीव भाग न्यून और निर्बल होजाता है और खनिज पदार्थों की अधिकता के कारण अस्थि में कड़ाई आजाती है और कुड़कीली होजाती है, इसका परिणाम यह होता है कि वृद्धों की अस्थियां शीघ्र टूट जाती हैं और कठिनता से जुड़ती हैं ।

अस्थि से मिलती जुलती एक वस्तु कार्टिलिज हमारे शरीर में होती है । नाक का पनपना, समस्त कान तथा गले का स्वरयंत्र पूर्ण रूप से कार्टिलिज के होने हैं । अन्य स्थानों में भी कार्टिलिज रहता है । शरीर में कलाई आदि जिनसे कड़ा काम लिया जाता है और घूमने और लचकने की आवश्यकता रहती है वहां पर बहुधा इसी कार्टिलिज से काम चलता है, अस्थि विकाश को अध्ययन करने से पता लगेगा कि अक्सर अस्थियां कार्टिलिज का एक विशेष विकसित रूप हैं । मनुष्य के जीवन में एक समय ऐसा भी होता है, जब उसके शरीर में एक भी अस्थि नहीं होती । मनुष्य के डेढ़ मास के भ्रूण में यद्यपि शरीर के अस्थि वाले अङ्ग बन जाते हैं पर अस्थियां नहीं होतीं, उनके स्थान में यही कार्टिलिज पदार्थ होता है, समय पाकर

वही कार्टिलिज क्रमशः अस्थि रूप होजाता है और इस प्रकार का परिवर्तन २५ वर्ष की अवस्था तक होता रहता है इस अस्थिविकाश का क्रम मनुष्यशरीर को विभिन्न अवस्थाओं पर ऐक्सरेज़प्रकाश द्वारा देखने से निश्चयरूपेण जाना जासकता है। ऐक्सरेज़प्रकाश अस्थि या ऐसी वा उससे अधिक घन वस्तु को पार नहीं कर सकता पर कार्टिलिज के पार होजाता है और चित्र पर उसकी छाया या प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, अस्थ्यादि का पड़ता है। इस विकाश से पचीस वर्ष तक मनुष्य की आयु का प्रमाण बहुत अच्छा ज्ञात होता है। कारण यह है कि अस्थिकेन्द्रों के उदय और विकाश का समय प्रकृति से निश्चित है। कार्टिलिज में जिस स्थान पर अस्थि प्रथम बनना आरम्भ होती है उसको उसका केन्द्र कहते हैं।

यह सत्य है कि कुछ कार्टिलिजें ऐसी हैं जो आमृत्यु अस्थि में परिवर्तित नहीं होतीं, और उनकी रचना भी अस्थि बन-जाने वाली कार्टिलिज से कुछ भिन्न होती है। पर सम्भव है कि इसका कारण मनुष्य समाज या जीव विकाश से सम्बन्ध रखता हो।

बाहर से देखने में मनुष्य मांस का पुतला मालूम पड़ता है और वास्तव में ऐसा है भी, शरीर में ऐसा कोई स्थान नहीं जहां थोड़ा बहुत मांस न हो। कतिपय शारीरिक अङ्ग तो ऐसे हैं जो केवल मांस के ही हैं और वे शरीर के परमोपयोगी

अङ्ग हैं। शरीर का गात्र मांस निर्मित है, अस्थ्यादि तो उसके साधने तथा सुचारुरूपेण कार्य करने तथा रक्षण के लिये हैं। यदि त्वचा को बकल और अस्थि को गुठली कहें तो मांस को शरीर रूपी फल का गूदा कह सकते हैं। समस्त शरीर भार का मांस लगभग आधा होता है शेषार्ध में अस्थ्यादि सातों धातुएं और जलादि पदार्थ होते हैं।

चलना, फिरना, अंगप्रक्षेपण, बोलना आदि समस्त बाह्य शारीरिक गतियां मांस द्वारा ही होती हैं। तथा ऐसी उपयोगी आभ्यन्तर गतियां भी जैसे हृदय का धड़कना, श्वास-प्रश्वास, अन्नमार्ग में अन्न का सरकना, इन्द्रियादि ग्रहण, बालों का खड़ा होना आदि भी मांस द्वारा ही सम्भव है। मांस का एक विशेष गुण यह है कि वह सिकुड़ और फैल सकता है, इसको क्रमशः उसका संकोचन और प्रसार कहते हैं। बाहु को मोड़ने से उसके सामने का मांस छोटा और मोटा हो जाता है और छोड़ देने से अपनी पूर्वावस्था को पहुँच जाता है। मांस के इसी गुण के कारण उसके द्वारा गतियां सम्भव हैं। क्योंकि मांस जिस वस्तु से जुड़ा रहता है अपने सिकुड़ने के साथ उसको खींचता है और उसी भाँति अपने प्रसारण के साथ उसको छोड़ देता है।

कंकाल या अस्थिपंजर से लगा हुआ मांस छोटे बड़े कई प्रकार के पट्टों से बना हुआ है, इन पट्टों को मांस-पेशियां कहते हैं। ये मांसपेशियां आकार प्रकार तथा परिमाण

में अनेक भांति की हैं, कोई लम्बी है कोई छोटी, कोई मोटी है कोई पतली तथा कोई चौड़ी कोई सकली, कोई बेलनाकार है और कोई चौकोर तिकोनी तथा गोल है। पेशियों का आकार और परिमाण उनके कार्य पर अवलम्बित है जिस आकार और जिस परिमाण की पेशीकी जिस स्थान पर आवश्यकता है, उस स्थान पर वैसी ही पेशी उपस्थित है। जैसे बाह्याग्र के लिये एक प्रकार की पेशी की आवश्यकता है। पर वक्ष के लिये दूसरे प्रकार की, उसके ऊपर की मांस पेशियां बेलनाकार न होकर चपटी और प्रायः तिकोनी हैं, नितम्बों के लिये गद्दानुमा पेशी की आवश्यकता थी इसी लिये नैतम्बिका पेशी उसी प्रकार वृहत् और गद्देदार है आदि आदि।

शरीर में कुल मिलाकर ५१६ मांसपेशियां हैं। सुश्रुत के अनुसार भी उनकी संख्या ५०० है जो आधुनिक संख्या से बहुत भिन्न नहीं है। अधिकांश मांसपेशियां जोड़ों में होती हैं। गला, जीभ और तालु की पेशियों के अतिरिक्त अन्य पेशियां युग्म हैं। प्रत्येक मांसपेशी के प्रायः दो भाग होते हैं, यह विभाग बड़ी पेशियों में बहुत स्पष्ट होता है। मांस पेशी का केंद्रिक भाग लाल रंग का होता है और सन्धिभाग भूरे रंग का, यह भूरा भाग वास्तव में मांसपेशी का सौत्रिक भाग है और लाल भाग मांस सेलों से निर्मित है। यह श्वेत भाग लाल भाग की अपेक्षा कड़ा और चिमड़ा होता है, इसे कंडरा कहते हैं। कंडरा द्वारा मांसपेशियां एक दूसरे से और अस्थियों से जुड़ी रहती हैं।

मांसपेशियों की गतियां दो प्रकार की हैं एक ऐच्छिक दूसरी अनैच्छिक। हाथ पैर आदि की गतियां इच्छाधीन हैं क्योंकि बिना इच्छा के साधारण स्वस्थ पुरुषमें इन गतियों का होना असम्भव है। अतएव सत्ताहीन होने तथा निद्रा में ये गतियां रुकी रहती हैं, पर दूसरे प्रकार की गतियां मनुष्य की इच्छा के आधीन नहीं, वे स्वतः होती रहती हैं। जैसे हृदय का धड़कना, फुसफुस तथा आमाशय और अन्त्र की गतियां हमारी इच्छा के आधीन नहीं। ये गतियां सोते, जागते, उठते, बैठते होती रहती हैं हमारी इच्छा से उनको कुछ प्रयोजन नहीं। ऐसी गतियां अनैच्छिक गतियां कहलाती हैं। इन दो प्रकार की गतिवाली पेशियों की रचना में भी कुछ अन्तर है। हृदय को छोड़ कर अनैच्छिक गतिवाली पेशियां धागीदार होती हैं। पर ऐच्छिक मांस रचना में ये धारियां नहीं होतीं—ये धारियां मानो स्प्रिंग का काम देती हैं और एकबार चाभी भरने से उनका १०० वर्ष तक चलना सम्भव है।

मांस पेशियों के बीच होकर रुधिर प्रणालियां, वाततन्तु समुदाय, रसवाहिनी नालियां निकलती हैं। मांस अस्थि पर सीधा नहीं चिपका होता है, इसके नीचे और ऊपर झिल्ली का आवरण रहता है, मांस को चिपकने से बचाने के लिये शरीर में पर्याप्त परिमाण में वसा बसी रहती है। इस प्रकार मनुष्य के शरीर में सब से नीचे अस्थियां, अस्थियों पर मांस और मांस पर स्रग्मस्त शरीर पर त्वचा चढ़ी हुई है। त्वचाका जो भाग हमें

दिखाई देता है वह बहुत हलका है। आग की लपट लग जाने या फफोला पड़ जाने से जिस चर्म के नीचे पानी भर जाता है वही ऊपरी त्वचा है, इसके और मांस के बीच में वास्तविक त्वचा रहती है। इस उपरले आवरण का नाम उपचर्म है। उपचर्म कई प्रकार की सेलों से निर्मित है, ये सेलें कई तहों में एक दूसरे के ऊपर बिछी रहती हैं। ऊपर की सेलें पतलीं और कड़ी रहती हैं। इसी उपचर्म की निम्न स्तरों में रंग रहता है जिससे मनुष्य काला, पीला, गेहुंआं आदि कहलाता है। गोरी जातियों में इन स्तरों में रंग नहीं रहता।

उपचर्म के नीचे त्वचा का वह भाग है जो चर्म कहलाता है। चर्म उपचर्म से अधिक मोटा और दृढ़ होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि चर्म शरीर के सभी अवयवों का एक सा नहीं होता, कहीं मोटा और कहीं पतला होता है। पदतलों और हस्ततलों का चर्म मोटा और पलकों आदि स्थानों का चर्म बहुत पतला होता है। चर्म में सेलों के अतिरिक्त सौत्रिक तन्तु, रक्त तथा लसीकावाहनियां, ज्ञानतन्तु और बालों की जड़ें भी रहती हैं। इनके अतिरिक्त उसमें दो प्रकारकी ग्रन्थियां भी रहती हैं जिनमें से एक तो तैलसा एक पदार्थ बनाती हैं जिससे बाल चिक्रण और चमकदार रहते हैं तथा त्वचा भी चिकनी रहती है और रुक्ष होकर चटकने नहीं लगती और दूसरी वे ग्रन्थियां हैं जो स्वेद बनाती हैं, ये स्वेदग्रन्थियां चर्म के सब से नीचे के भाग में रहती हैं। वास्तव में ये ग्रन्थियां छोटी २ नलियां

हैं जिनका मुंह ऊपर को होता है इनका नीचे का भाग सर्प की भांति गेडुरी मारे हुए होता है और ऊपर का भाग सतर रहता है। ग्रन्थि के चारों ओर रक्त केशिकाओं का एक जाल रहता है। इसी केशिकाजाल में से स्वेद ग्रन्थियों की सेलें एक तरल ग्रहण करके ऊपर को फेंक देती हैं। यही तरल स्वेद या पसीना है। पसीने में प्रायः वे सब पदार्थ रहते हैं जो मनुष्य के मूत्र में होते हैं इसके अतिरिक्त उसमें उपचर्म की गिरी हुई सेलें किंचित बसा और कुछ प्रोटीन रहती हैं। यदि ये चर्मछिद्र या स्वेद ग्रन्थियां न होतीं तो यही पदार्थ शरीर भर में घूम कर मूत्र द्वारा निकलते और शरीरको दूषित करते। प्रकृति ने उन्हें निकालने के द्वार समीप ही बनाकर शरीर को दूषित होने से बचा लिया है। शरीर की बाह्य स्वच्छता का प्रभाव शारीरिक स्वास्थ्य पर इससे सिद्ध है।

बाल त्वचा से ही निकलते हैं। हथेली, नलुओं और शिश्न के अग्रभाग को छोड़ कर शरीर के प्रत्येक भाग में बाल होते हैं, हां कहीं कम कहीं अधिक होते हैं। सब स्थानों के बाल एक से नहीं होते कहीं के मोटे और कहीं के पतले। बाल का कुछ अंश त्वचा से बाहर निकला रहता है और कुछ भीतर जिसको उसकी जड़ कहते हैं, जिस गढ़े में बालकी जड़ होती है उसको लोमकूप कहते हैं। त्वचा की तैलग्रन्थियों का सम्बन्ध बालों से रहता है। बालों की जड़ श्वेत रङ्ग की और मोटी होती है तथा त्वचा में कुछ तिछीं होती है

और उसके भुकाव की ओर मांस की एक पट्टी लोमकूप की दीवार से लगी रहती है। शीतादि के कारण लोमहर्षण इसी मांस के संकोच के कारण होता है। बाल के दो भाग होते हैं एक मध्यस्थ दूसरा वाह्य—मध्यस्थभाग गोलाकार सेलों से बना होता है और वाह्य सूत्राकार लम्बी सेलों से। इन्हीं लम्बी सूत्राकार सेलों में रंग भरा रहता है। श्वेत बालों में रंग का हास होजाता है। तैल ग्रन्थियों के रुग्ण हो जाने तथा रक्त की कमी या कमजोरी से बाल श्वेत होजाते हैं। बालों की रचना सिद्ध करती है कि यदि त्वचा की ग्रन्थियां बेकाम नहीं हो गई हैं तो श्वेत बाल पुनः काले हो सकते हैं। और गिरे हुए बाल व्यायामादि से फिर उग सकते हैं।

प्राचीनों का मत था कि नख एक प्रकार की अस्थि है पर अब यह सिद्ध होगया है कि नख और अस्थि की रचना समान नहीं है और न उनका अस्थि से कुछ सम्बन्ध है। नख एक प्रकार का उपचर्म है अन्तर केवल यह है कि नख-नामी उपचर्म की सेलें कड़ी होगई हैं। नख में उपचर्म की भांति रक्तनलियां नहीं होतीं उनका पोषण उनके नीचे के चर्म की लसीकाग्रन्थियों से होता है। त्वचा स्पर्शेन्द्रिय है और हमारे शरीर की रक्षा करती है। त्वचा द्वारा जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है रक्त के कतिपय मलिन पदार्थ निकलते हैं अतएव वह रक्त शोधक भी कही जा सकती है। त्वचा के छिद्रों से कुछ स्वच्छ वायु हमारे शरीर में अवेश

करती है और रक्त की कुछ विपैली वायु बाहर निकलती है अनएव त्वचा फुसफुस का काम भी करती है इस प्रकार त्वचा हमारे शरीर के लिये चतुर्गुण लाभदायक है ।

हमें विदित है कि हमारे शरीर का बहुत सा भाग पोला है । इस पोला ही के कारण शरीर में गतियां सम्भव हैं, जो भोजन हम करते हैं और जो पानी पीते हैं वह भी कहीं जाता है, यदि शरीर के भीतर स्थान न हो तो यह क्योंकर सम्भव है । जिस प्रकार शरीर बाहर त्वचा से मढ़ा हुआ है उसी प्रकार शरीर के पोले भाग में भीतर से एक प्रकार की त्वचा चढ़ी हुई है । गाल और ओष्ठों के भीतर जो लाल २ वस्तु चमकती है वह एक प्रकार की त्वचा है, मुख से लेकर गुदा पर्यन्त समस्त अन्नमार्ग में, नासिका से सूक्ष्म वायु प्रणालियों तक, मूत्र प्रणाली, मूत्राशय आदि स्थानों में यह विशेष प्रकार की त्वचा मढ़ी हुई है ।

यह विशेष त्वचा सदा भीगी रहती है । बात यह है कि इसका पृष्ठ एक रस से तर रहता है इस तरल पदार्थ को श्लेष्मा कहते हैं । साधारण बोलचाल में इस त्वचा को फिल्ली कहा करते हैं । बाह्य त्वचा के समान इसके भी दो भाग होते हैं, ऊपर का भाग सेलों की एक या दो तहों से बनता है, कहीं २ इसमें सूक्ष्म तार निकले रहते हैं । नीचे का भाग सौत्रिक तन्तुओं की एक तहसे निर्मित है और उसमें श्लेष्मा बनाने वाली ग्रन्थियां रहती हैं तथा रक्तकोशिकाओं

और लसीकाग्रन्थियों का जाल बिछा रहता है। जिह्वा में जो छोटे २ दाने दिखाई पड़ते हैं वे इन्हीं केशिकाओं, लसीकाग्रन्थियों तथा सौत्रिकतन्तुओं के झुंड हैं। श्लेष्मा एक प्रकार का प्रोटीन है, कफ और आम इसी से बनते हैं। खांसो का कफ, अतिसार का आम तथा जुकाम में जो सिनक निकलती है वह यही श्लेष्मा है। त्वचा की सेलों में रङ्ग रहता है पर भिल्ली की सेलें रङ्गरहित होती हैं और वह रक्त की झलक के कारण लाल दिखाई पड़ती हैं। यहां तक हमारे शरीर की सामान्य रचना का विवरण हुआ।

हमारे शरीर में १६ भाग अस्थि ४२ से लेकर ४५ भाग मांस १८ भाग वसा ८ भाग त्वचा तथा ५ भाग रक्त, इसके अतिरिक्त शरीर में अन्य प्रकार के रस, मस्तिष्क का तरल तथा मलमूत्रादि की मात्रा है। इसका अर्थ यह है कि यदि शरीर के १०० भाग कर दिये जावें तो इन धातुओं की इतनी मात्रा शरीर में होगी अथवा यदि शरीर को १०० सेर अर्थात् २॥५ मन का मान लिया जावे तो अस्थ्यादि उपरि लिखित सेर होगी।

शरीर के विशेष अङ्गों का वर्णन आगे चलकर यथा स्थान उनके कार्यानुसार आजावेगा, अब आगे यह देखना है कि शरीर का पोषण तथा वर्द्धन कैसे होता है, किस प्रकार भोजन और जल से शरीर की भिन्न २ धातुएं क्रमशः बनती हैं और वे धातुएं क्या हैं। तथा यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह

सात धातुओं का बना हुआ पुनला किस प्रकार चलता, फिरता, सोचता है।

शरीर की सात धातुएं।

परमात्मा की सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थ दिखाई पड़ते हैं एक तो वे हैं जो चलते फिरते और काम करते हैं, घटते बढ़ते हैं, जिनमें चेतना के लक्षण पाये जाते हैं दूसरे वे हैं जिनमें हिलने, डुलने, घटने, बढ़ने, की शक्ति नहीं है, ऐसे पदार्थों को जड़ या अचेतन कहते हैं। सामान्यतः चेतन पदार्थों में ५ लक्षण अवश्य पाये जाते हैं।

१ बाह्य उत्तेजना का अनुभव करके अपने में शक्त्यनुसार परिवर्तन करना, इस शक्ति को उत्तेज्य कहते हैं। यह अनुभूतिशक्ति सजीवता का प्रमाण है।

२ जीवधारी भोजन को पचाकर अपनी शक्ति से बढ़ते हैं, जीव की इस शक्ति का नाम समीकरण रक्खा गया है। जिस प्रकार मनुष्य हलुआ पूड़ी, माग पात खाता है और वह पच कर रक्त और मांस होजाता है।

३ तीसरा लक्षण वर्द्धन या वृद्धि है, जहां वृद्धि नहीं वहीं जीव की मृत्यु होजाती है।

४ अपने समान अन्य जीव उत्पन्न करना भी चैतन्य सृष्टि का लक्षण है यह उसकी उत्पादक शक्ति कहलाती है।

५ अप्राह्य और मलिन पदार्थों को शरीर से निकाल देना भी जीव का विशेष गुण है इस कार्य को मलोत्सर्जन कहते हैं।

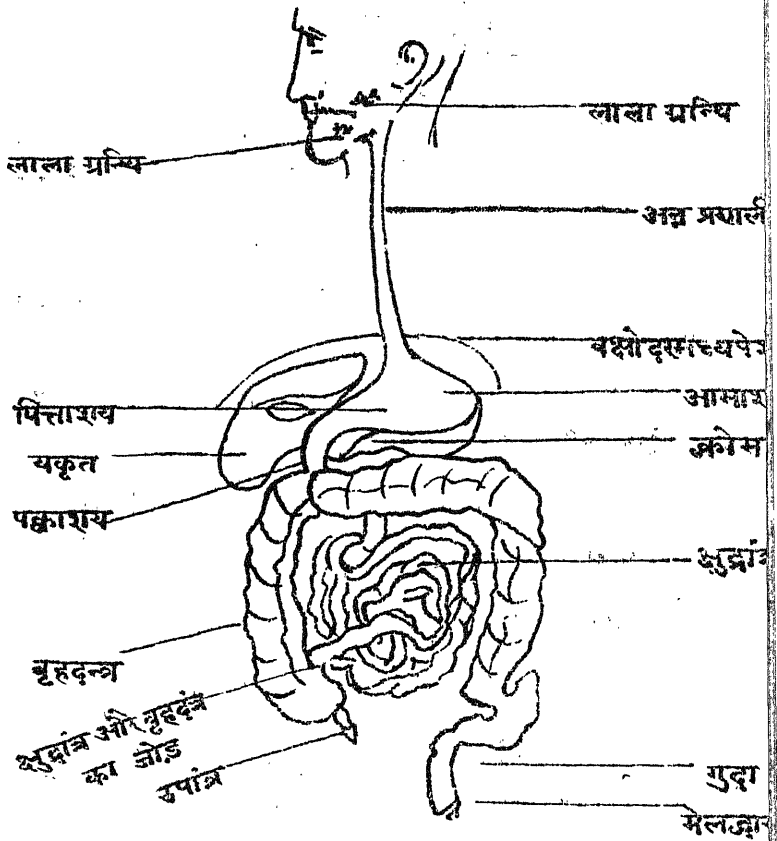
संक्षेपतः जीव के ५ मुख्य लक्षण उत्तेज्य, समीकरण, वर्द्धन, उत्पादकशक्ति और मलोत्सर्जन हैं। जीव की ये पांचो क्रियाएं क्षुद्रातिक्षुद्र जीवधारी एक सेली अमीबादि से लेकर वृहत्काय हेल और हस्त्यादि तक में आवश्यक हैं। मनुष्य की भी सजीवता उन्हीं बातोंपर निर्भर है और इन क्रियाओं के यथावत् होते रहने का नाम ही स्वास्थ्य है, इनमें से प्रथम को छोड़ शेष चारका सम्बन्ध पोषण संस्थान से है, और इन चारों का समवायिनाम पोषण कहा जासकता है। प्रथम का सम्बन्ध मांस्तिष्क तथा नाड़ीमंडल से है जिसके द्वारा मनुष्य में गतियां होती हैं और ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जो विद्या इन जीवक्रियाओं का विवेचन करती है उसको इन्द्रियव्यापारशास्त्र या शरीरव्यापारशास्त्र (Physiology) कहते हैं।

पोषण से सम्बन्ध रखने वाले सब अङ्ग धड़ के भीतर हैं। यद्यपि उसका प्रारम्भ मुख से ही होजाता है और कुछ कार्य मुख में भी होता है पर भोजन का वास्तविक समीकरण तथा आत्मीकरण धड़ के भीतर ही होता है। भोजन मुख द्वार से शरीरमें प्रवेश करता है और कई प्रक्रियाओं के अनन्तर घूमता फिरता प्रायः १८ घन्टे के बाद उसका वह भाग जो आत्मीकरण होने से शेष रह जाता है या नहींहो सकता है विष्टारूप में गुदा द्वार से निकल जाता है, इस मार्ग को अन्नमार्ग कहते हैं, अन्नमार्ग के कई विशिष्ट भाग हैं और उनके विशिष्ट कार्य भी हैं।

यद्यपि शरीर की समस्त धातुएं जो भोजन हम करते हैं उसी से बनती हैं और वे सब पदार्थ जो शरीरस्थ धातुओं में हैं हमें भोजन से प्राप्त होते हैं, वे भोजन में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं, पर उनका रूप दोनों में एकसा नहीं है। भोजनतत्वों को धातुतत्वों के रूपमें बदलने के लिये उसमें अनेक रासायनिक परिवर्तन आवश्यक हैं। भोजन के शरीर में पहुंचने पर उसमें एक के बाद दूसरे कई रस मिलते हैं और अनेक प्रक्रियाएं होती हैं तब कहीं जाकर भोजन तत्वों को शारीरिक धातुतत्वों का रूप प्राप्त होता है और इसी कार्य प्रणाली को भोजन का आत्मीकरण कहते हैं। सब से प्रथम जो भोजन हम करते हैं वह मुख गह्वर में जाता है, वहां वह दांतों द्वारा कुचला जाता है और उसमें एक रस का समावेश होता है। यह रस जो मुख में जाकर भोजन में मिलता है मुख की लालाग्रन्थियां तैयार करती हैं ये लालाग्रन्थियां (लार टपकाने वाली ग्रन्थियां) मुख में ३ स्थान पर हैं (१) जिह्वा के नीचे (२) जाबड़ों के पीछे जहां ऊपर नीचे के जाबड़े मिलते हैं (३) ठोढ़ी की हड्डी के पिछले भाग के ऊपर।

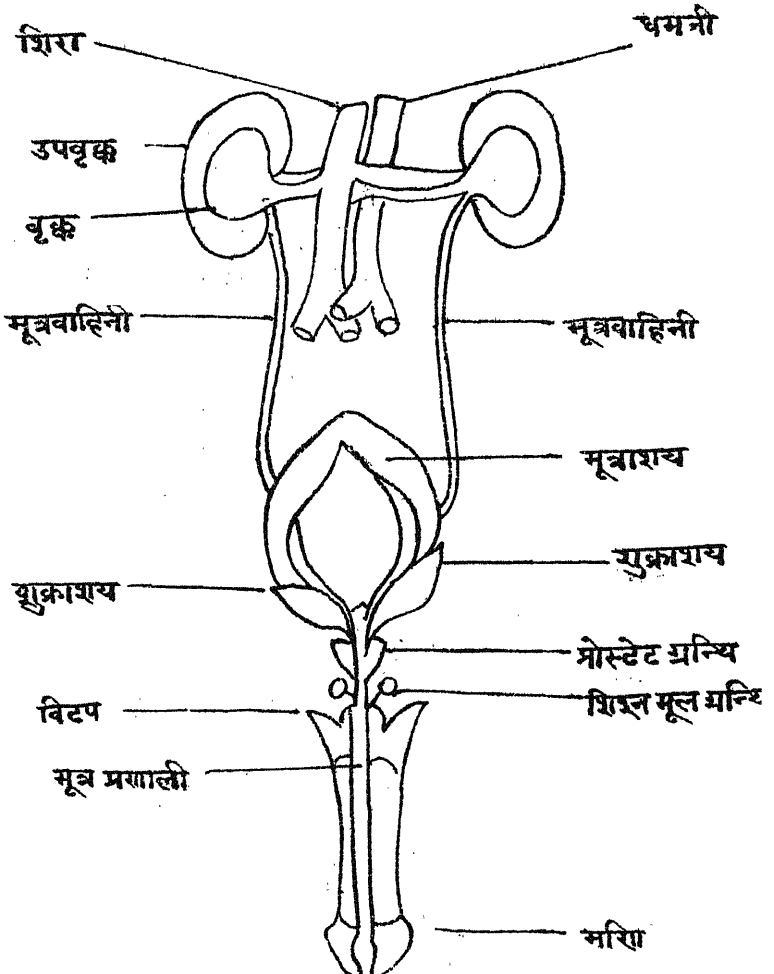
इस रस का कार्य भोजनसे शर्करा निकालना है। अम्ल प्रतिक्रिया से इस रस को निकलने में बाधा पड़ती है। अतः भोजन के आदि में तेज खटाई खाना इस कार्य में हानिकारक है, इस रस से मिलकर भोजन लुआबदार और सुख से निगलने योग्य होता है। जब भोजन में यह रस मिलता हो तो उसकी एक

अन्नमार्ग



चित्र नं० ८

मूत्राशय व शुक्राशय (बीच से कटा हुआ)



गोली सी बन जाती है और वह जिह्वा द्वारा अन्नप्रणाली में ढकेल दी जाती है। प्रारम्भ में श्वासमार्ग और अन्नमार्ग दोनों एक ही होते हैं, आगे चलकर टेनुए में इसकी दो पृथक् शाखाएं हो जाती हैं। श्वासद्वार सदा खुला रहता है पर जब ग्रास नीचे उतरने लगता है तो उस के ऊपर एक ढक्कन गिर पड़ता है और अब अन्नप्रणाली खुल जाती है और ऊपर उठकर ग्रास ग्रहण कर लेती है। इस बात का अनुभव ग्रास निगरण का अनुकरण करके प्रत्येक समय किया जा सकता है। जब कभी इस क्रिया में असावधानी हो जाती है और अन्न या जल का कुछ अंश श्वास नलिकाओं में चला जाता है तो उस में एक प्रकार का उत्तेजना होती है और खांसी आती है तथा जब तक वह उत्तेजना शान्त नहीं हो जाती चैन नहीं पड़ता है और जब तक अन्न या जल बाहर नहीं निकल जाता उत्तेजना शान्त नहीं हो सकती। अतः भोजन सदैव सजग होकर और स्वस्थ चित्त से करना उचित है। ऊँघते हुए, चिन्ता में मग्न, बहुत बोलते या हंसते हुए भोजन करने से स्वास्थ्य में हानि होने की सम्भावना है।

गले के नीचे उतर कर अन्न आमाशय में पहुँचता है, आमाशय मांस की एक थैली है, यह थैली उदर के बाएं भाग में वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के नीचे रहती है। वक्षोदरमध्यस्थ पेशी के ऊपर बायां फुसफुस और हृदय रहते हैं, हृदय के पीछे होकर अन्नप्रणाली वक्षोदरमध्यस्थपेशी में होकर आमाशय

से जुड़ी रहती है। आमाशय का बायां भाग दाहिने से अधिक चौड़ा होता है, उसका आकार चमड़े की मशक से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

आमाशय एक ओर अर्थात् हृदय के पास अन्नप्रणाली से मिला है वहां उसमें एक द्वार है जिसमें कपाट लगे हैं। जो भीतर को खुलते हैं जिससे अन्नप्रणालीद्वारा लाया हुआ अन्न उसमें पहुंचता है पर पीछे नहीं लौट सकता है और दूसरी अर्थात् दाहिनी ओर अन्नसे मिला है वहां भी उसका एक द्वार है जिसके द्वारा आमाशय का अन्न अन्नमें पहुंचता है। आमाशय की दीवार अनैच्छिक मांस और सौत्रिकतन्तु से बनी है और उसमें भीतरी तहकी ओर झिल्ली बिछी हुई है उस झिल्ली अर्थात् श्लैष्मिक कला में सूक्ष्म २ नलयाकार ग्रन्थियां होती हैं—आमाशय के बाहरी पृष्ठ पर भी एक पतली झिल्ली चढ़ी रहती है। अन्न के समीप वाले द्वार पर मांस की मोटी तह होती है। इस तह के संकोच से द्वार साधारणतया बन्द रहता है, जब भोजन आमाशय से अन्न में जाने वाला होता है तब मांस के विस्तार से यह द्वार खुल जाता है।

आमाशय की ग्रन्थियों में जो रस बनता है उसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है उसमें नमक के तेजाब का प्रभाव रहता है। इसके अतिरिक्त उसमें दो अन्य पदार्थ रेनेट और पेप्सीन नामक भी रहते हैं और कुछ अन्य साधारण लवण। आमाशय में अन्न पहुंचने के आध घंटा बाद इस रस का निकलना आरम्भ होता है उस समय तक लालारस अपना कार्य करता रहता है।

आमाशय में लम्बाई के रुख सलबटें पड़ी रहती हैं, जब आमाशय भरजाता है तब उसका हृदयसमीपी द्वार बन्द होजाता है और आमाशय में गतियां होती हैं जिससे अन्न भली भांति मथने लगता है और उसमें आमाशयिक रस मिलने लगता है और पीछे का द्वार बन्द होजाता है । लम्बाई के रुख सलबटों के कारण आमाशय की गतियां लम्बाई के रुख होती हैं अतः अन्न का जो भाग खूब मथ जाता है और आमाशय रस के मिलने से पतला हो जाता है आगे को बढ़ता है और मांस-प्रसार के कारण आमाशय का अन्त्रसमीपी द्वार जिसे पाकाशय-द्वार कहते हैं खुल जाता है और आया हुआ भोजन क्षुद्रान्त्र में वेग से चला जाता है । परन्तु न तो आमाशय का रस भोजन में एक दम मिलता है तथा आमाशयरस बनानेवाली ग्रन्थियां और मांस की तर्हे मध्य भाग ही में अधिक हैं इसी लिये भोजन सब नहीं जाता वरन् उसका थोड़ा २ भाग क्षुद्रान्त्र में जाता है । इस प्रकार मथे हुए भोजन को आहाररस कहते हैं । भोजन के पदार्थ सीधे रक्त में नहीं जा सकते, उन में एक विशेष प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता होती है वह परिवर्तन वह्मंश में आमाशयरस द्वारा होजाता है । आमाशय में पेप्सीन नामक पदार्थ है उसका गुण भोजन की प्रोटीनों को विश्लेषण कर देने का है । पेप्सीन अपना कार्य बिना अम्ल की सहायता के नहीं कर सकता था । आमाशय में नमक के तेजाब के रूप में अम्ल है ही, बस अब आमाशयिक पेप्सीन उससे मिलकर भोजन

प्रोटीनों को ऐसे पदार्थों में परिवर्तन कर देता है। कि जो घुलनशील हैं और अन्त्र को श्लैष्मिक कला द्वारा रक्त में पहुँचने योग्य होते हैं।

भोजन की वसा (घृततैलादि) आमाशय की गर्मी से प्रथम तो द्रव रूप में आजाती है और चूँकि वसा सेलों के भीतर रहती है, अम्लमिश्रित आमाशयिक रस की पेप्सीन सेल के प्रोटीन भाग को घुला देती है और सेलें टूट कर वसा के बिन्दुक बाहर निकल आते हैं। इस प्रकार देखिये कि आहार-रस क्या है—उसमें प्रोटीनों के विश्लेषण से उत्पन्न हुए घुलनशील यौगिक हैं, वसा पिघली हुई और उसके बिन्दुक सेलों से बाहर हैं, श्वेतसार द्राक्षौज (अंगूरी शकर) तथा यवौज (जौ की शकर) के रूप में हैं—जल और लवण ज्यों के त्यों हैं।

आमाशय से आहाररस क्षुद्रान्त्र में जाता है परन्तु क्षुद्रान्त्र में अन्न उस समय तक नहीं जाता जब तक पूरे तौर से मथ नहीं जाता और पतला नहीं होजाता। कोई सख्त चोड़ा यथा सम्भव क्षुद्रान्त्र में नहीं जाने पाती। इस लिये उचित है कि भोजन अच्छे प्रकार दातों से चबा कर निगला जाय अन्यथा दातों का कार्य आमाशय जैसे कोमल अंग को करना पड़ता है जिससे सम्भव है आमाशय प्रदाह हो जावे अथवा अन्य कोई उत्पात उपस्थित हो जावे। अन्नमार्ग का वह भाग जो क्षुद्रान्त्र के नाम से प्रसिद्ध है एक नली है जिसकी लम्बाई २२ फुट होती है और व्यास सवासे लेकर पौने दो इंच तक

होता है। क्षुद्रान्त्र सर्प की भांति गेडुरी मारे पड़ी रहती है। इसका नीचे का सिरा वृहदन्त्र से जुड़ा रहता है, वृहदन्त्र क्षुद्रान्त्र से अधिक चौड़ी पर लम्बाई में उस से चतुर्थांश ही होती है।

क्षुद्रान्त्र का आरम्भिक द्वादशांगुल भाग एक अपूर्णवृत्त के आकार में मुड़ा रहता है, अन्त्र के इस भाग को पकाशय कहते हैं, यकृत और क्लोम ग्रन्थियों के रस क्षुद्रान्त्र के इसी भाग में आकर आहाररस से मिलते हैं। क्षुद्रान्त्रकी रचना प्रायः आम-शयकी दीवार जैसी है। सबसे बाहर झिल्लीका वेष्टन और सब से भीतर श्लैष्मिक कला है बीचमें मासकी दो तहें हैं, बाहरी में लम्बाई के रख सेलें बिछी रहती हैं और भीतरी में चौड़ाई के रख, इन दोनों के बीच में सौत्रिकतन्तु रहते हैं जिनमें कुछ कुछ ग्रन्थियां भी रहती हैं। श्लैष्मिककला में भीतर गोलाई में भोलें पड़ी रहती हैं तथा नलयाकार ग्रन्थियों के बीच में बाल जैसे बारीक उभार रहते हैं जिन्हें ग्राहकांकुर कहते हैं। ये ग्राहकांकुर हमारे भोजन को रक्त में पहुंचाते हैं।

जो रस क्षुद्रान्त्रीय ग्रन्थियां बनाती हैं वह क्षुद्रान्त्रीयरस कहलाता है इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इस रस में चार चीजें पाई जाती हैं। क्लोमोत्तेजक—यह वस्तु रक्त द्वारा क्लोम-ग्रन्थि में पहुंचकर उसको उत्तेजना देती है जिससे वह ग्रन्थि शीघ्रता से रस बनाने लगती है। दूसरा पदार्थ क्लोम के प्रोटीन-विश्लेषक रसकी शक्तिको बढ़ाता है। तीसरा पदार्थ इरेप्सीन

कहलाता है इसका कार्य उन घुलनशील पदार्थों को भोजन की प्रोटीनोंके विश्लेषणके रूपमें परिवर्तन करना है। चौथा पदार्थ शर्करा परिवर्तक है इसकी क्रिया से सब प्रकार की शर्कराएं अंगूरी शर्कर में जो रुधिर को ग्राह्य है परिवर्तित होजाती हैं। पक्काशय में क्षुद्रान्त्रीयरसके अतिरिक्त दो और रस मिलते हैं। एक पित्त है दूसरा क्लोमरस, इन दोनों को बनाने वाली दो बड़ी ग्रन्थियां हैं। यकृत जिससे पित्त तैयार होता है पक्काशय के ऊपर पसुलियोंके भीतर दाहिनी और वक्षोदरमध्यस्थपेशी में घुसा हुआ रहता है। शरीर भर में यह सब से बड़ी ग्रन्थि है। यकृत में जो पाचकरस बनता है उसको पित्त कहते हैं। यह पीलाहट लिये हुए हरे रंग का क्षारीय प्रतिक्रियावाला कड़ुवा पदार्थ है। यकृत से दो नलियां निकलती हैं एक दाहिने और दूसरी बायें भाग से। यकृतद्वार में ये दोनों नलियां मिल जाती हैं। आगे चल कर इस संयुक्तनली में पित्ताशयिक नली भी मिल जाती हैं फिर तीनों की संयुक्तनली जिसे पित्त-प्रणाली कहते हैं चल कर पक्काशय में मिल जाती है। पित्ताशय एक छोटी सी थैली है जो यकृत से झिल्ली द्वारा बँधी रहती है और पित्तप्रणाली द्वारा उससे मिली है। जब भोजन पक्काशय में होता है पित्तस्रोतों से निकला हुआ पित्त पित्तप्रणाली-द्वारा पक्काशय में पहुँच जाता है। जब भोजन पचाने के लिये इसकी आवश्यकता नहीं रहती तब वह पित्तप्रणाली में न जाकर, पित्ताशय में एकत्रित होता रहता है।

दूसरी ग्रन्थि का नाम क्लोम है यह पक्काशय के निचले भाग से वेष्टित पिस्तौल के आकार की होती है। इसमें से जो रस निकलता है उसे क्लोमरस कहते हैं। क्लोमरस क्लोम में अनेक नलियों से निकलता है जिन्हें स्रोत कहते हैं। ये स्रोत मिलकर एक बड़ी नली बन जाते हैं जो क्लोमप्रणाली है। इसका विशेष भाग क्लोम के अन्दर रहता है और उसके दाहिने सिरे से बाहर निकल कर पित्तप्रणाली के साथ पक्काशय में मिल जाती है। क्लोमरस में तीन पदार्थ होते हैं जो भोजन-पाकमें सहायता देते हैं। (१) ट्रिपसीन, यह प्रोटीनविश्लेषक है पर आमाशय की पेप्सीन से अधिक प्रबल होती है। इसका कार्य क्षारीय प्रोटीनोंपर अधिक होता है। (२) अमाइलेप्सीन, यह श्वेतसार को यवौज (जौ की शकर) में परिवर्तन करता है। (३) स्टीईप्सीन, यह वसाविश्लेषक है। इसके द्वारा वसा से ग्लेसरिन और अम्ल बन जाते हैं। पित्त का कार्य क्लोमरस की क्रियाओं को प्रबल करना है तथा आमाशय से आये हुए अम्ल प्रतिक्रियावाले भोजन को पित्त तथा क्लोमरस मिलकर क्षारीय कर देते हैं जिससे क्लोमरस की इरेप्सीन अपना असर अच्छा कर सकती है। वसा का पचाव तथा आत्मीकरण पित्त के द्वारा होता है। इन रसों के मिल जानेसे आहार क्षुद्रान्त्र में इस योग्य हो जाता है कि उसे क्षुद्रान्त्र के ग्राहकांकुर पीजाते हैं। इस प्रकार भोजन का रस रक्त बनता है। हमारे वैद्यक ग्रन्थों में इसी को रस कहा है। क्षुद्रान्त्र में केचुए के समान

लहरें उठती हैं इसके कारण अन्न नीचे सरकता जाता है और शनैः शनैः उस का रस रक्त में पहुँचता जाता है। परन्तु लवण और जल वृहदन्त्र द्वारा ग्रहण होता है, इस प्रकार खाया हुआ भोजन प्रायः १८ घंटे में नीरस होकर मल रूप में बाहर निकल जाता है और सारभाग रक्त में चला जाता है।

अब यह देखना है कि रस से रक्त किस प्रकार बनता है और रक्त से मांस कैसे तय्यार होता है। रक्त का संस्थान हृदय है। शुद्ध रक्त हृदय से सब शरीर को जाता है और अशुद्ध रक्त लौटकर इसमें आता है। हृदय का आकार मनुष्यकी बन्द मुठ्ठी से बहुत कुछ मिलता है और उसका स्थान पसुलियों के नीचे बाईं ओर दोनों फुसफुसों के बीच में होता है। यदि हम अपनी बन्द मुठ्ठी को इस प्रकार रखें कि हमारा मणि-बन्ध (कलाई का वह भाग जो हथेली के समीप है) बाएं चूचुक से सवा इंच नीचे रहे और बड़ी उंगली के पौरुवे दाहिने कंधे की ओर हों तो हमारी मुठ्ठी ठीक हमारे हृदय के ऊपर होगी।

हृदय में चार कोठरियां हैं दो दाहिनी ओर दो बाईं ओर, दाहिने और बाएं भाग के बीच में मांस का परदा है, ऊपर की कोठरियों को ग्राहककोष्ठ और नीचे की कोठरियों को क्षेपककोष्ठ कहते हैं। दाहिनी ओर की कोठरियों के बीच में तीन तिकोने सौत्रिकतन्तुनिर्मित कपाट है और दो बाईं ओर हैं। ये कपाट नीचे की ओर खुलते हैं और ऊपर की ओर बन्द

होते हैं। दाहिने ग्राहककोष्ठ में दो नलियां लगी हैं एक ऊपर दूसरी नीचे, ऊपर वाली ऊर्ध्व महाशिरा और नीचे वाली निम्न महाशिरा है। ऊर्ध्व महाशिरा शिर, ऊर्ध्व शाखाओं और वक्ष्यादि ऊपर के भागोंसे अशुद्ध रक्त इकट्ठा करके लाती है और निम्न महाशिरा शेष निम्न भागों से। दाहिने क्षेपक कोष्ठ से एक नली निकलती है जिसके दो भाग हो जाते हैं, एक दाहिने फुसफुस की जाती है और दूसरी बाएं फुसफुस को। यह फुसफुसीया धमनी है। जहां यह धमनी हृदय से निकलती है वहां उसमें एक अर्द्धचन्द्राकार कपाट लगा है वह धमनी की ओर खुलता है हृदय की ओर नहीं, जिससे रक्त हृदय से धमनी को आसक्ता है पीछे हृदय में नहीं लौट सकता।

बाएँ ग्राहककोष्ठ में चार नलियां लगी हैं इनमें दो दाहिने और दो बाएँ फुसफुस से आती हैं, ये फुसफुसीया शिराएं हैं। बाएँ क्षेपककोष्ठ के पिछले भागसे एक बड़ी मोटी नली निकली है, यह बृहत् धमनी है। यही धमनी शाखाप्रशाखाओं द्वारा समस्त शरीर को शुद्ध रक्त देती है। इसकी शाखा प्रशाखाओं का जाल समस्त शरीर में फैला है। कोई २ छोटी धमनियां तो इतनी सूक्ष्म हैं कि बिना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के उन्हें देख भी नहीं सकते। ये धमनियां मांस की दीवारों की बनी होती हैं। इन छोटी २ धमनियों से इनसे भी सूक्ष्मतर नलियां निकलती हैं, ये सेलोंकी एक तह से बनी होती हैं, इन में मांस नहीं होता। जहां रक्त धमनियों से बढ़कर

इन में जाता है उसका सार भाग (रक्तवारि) उनकी दीवारों मेंसे छन पड़ता है और उसको ग्रहण करके शरीर के अङ्गों की सेलें पुष्ट होती हैं और उस रक्त का औक्सिजनगैस भी अङ्गों की पुष्टि में काम आजाता है। इन पतली पतली मांसरहित नलियों को केशिकाएं कहते हैं। पतली २ केशिकाएं बड़ी २ केशिकाओं में खुलती हैं और बड़ी २ केशिकाएं बड़ी नलियों में खुलती हैं इन केशिकाओंके निस्साररक्तमें शरीरकी मलिन गैस कारबनडाईऑक्साइड छन जाती है जिससे उस रक्त का रंग काला हो जाता है यह स्याहीमाइल रक्त छोटी केशिकाओं से बड़ी केशिकाओं में और बड़ी केशिकाओं से बड़ी नलियों में जाता है इन अशुद्धरक्तवाहिनी नलियों को शिरा कहते हैं। ये शिराएं धमनियों से अधिक चौड़ी हैं। ये शिराएं एक दूसरे से मिल कर दो शिरा बन जाती हैं जो ऊर्ध्व महा शिरा और निम्न महाशिरा होकर हृदय के दाहिने ग्राहककोष्ठ में गिरती हैं इस प्रकार हृदय के वाम भाग से गया हुआ रक्त हृदय के दक्षिण भाग में पहुंच जाता है पर इस रक्त के हृदय में पहुंचने से पूर्व उसमें दो प्रकार के रस आकर मिल जाते हैं।

हमने देखा था कि हमारे भोजन के रसको क्षुद्रान्त्र के ग्राहकांकुर चूस लेते हैं और शेष रस क्षुद्रान्त्र तथा बृहदन्त्र की श्लैष्मिक कला में होकर शरीर के बाहर चला जाता है। पर यह भोजनरस रक्तमें कैसे पहुंचता है ? जो रक्तवारि केशिकाओंमें से चू जाता है उससे शरीरकी सेलें पोषणपदार्थ ग्रहणकर अपने

मलिन पदार्थ उसमें छोड़ देती हैं। यह शेषरस (उच्छिष्टरक्तवारि) लसीका कहलाता है। रक्तकेशिकाओं के अतिरिक्त कुछ और केशिकाएं होती हैं जो इस लसीका को ले लेती हैं और इस लसीका को अपने साथ मिला कर बड़ी २ लसीका वाहनियां बनजाती हैं और अन्तमें इनकी दो बड़ी वाहनियां बनजाती हैं जो गर्दन की शिरा में एक दाहिनी ओर तथा दूसरी बाई ओर मिल जाती हैं। बाई ओर वाली वृहत् लसीका वाहिनी है और यह ग्रीवा तथा दाहिनी शाखाको छोड़ प्रायः समस्त शरीर से लसीका लाती है। श्लुद्रान्त्रके ग्राहकांकुर ठोस नहीं हैं। प्रत्येकके भीतर एक सूक्ष्म लसीका नली रहती है, ये नलियां लसीका केशिकाओं से मिल जाती हैं, ये केशिकाएं वृहत् लसीका वाहिनी से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार आहाररस वृहत् लसीका वाहिनीद्वारा गर्दन की शिरा में गिरता है और शेष आहाररस श्लैष्मिक कला से रक्त केशिकाओं द्वारा शिराओं में गिरता है इस प्रकार आहाररस में मिल जाता है और शिराओं द्वारा हृदय में पहुंचता है। लसीका वाहनियों के बीच २ में छोटी २ ग्रन्थियां हैं। गर्दन या जंघादि में जो गिल्टियां उसके समीपस्थ स्थानों में चोट लगने या फोड़ा फुंसी उठने से निकल आती हैं वे यही ग्रन्थियां हैं। ये ग्रन्थियां एक विषनाशक रस बनाती हैं, जिसे वे लसीका में छोड़ती रहती हैं। तथा रक्त-श्वेताणु भी इन्हीं ग्रन्थियों द्वारा बनते हैं।

जो रक्त इस प्रकार शरीर की मलिन वस्तुओं, आहार रस और लसीकामिश्रित होकर शिराओं द्वारा हृदय में पहुंचता है

वह शरीर के पोषण योग्य हीन होता है। हृदय से वह फुस-फुसीया धमनी द्वारा फुसफुसों को जाता है और वहां शुद्ध होकर फुसफुसीया शिराओं द्वारा हृदय को लौटता है और शुद्ध रक्त होकर शरीर के पोषण को चल देता है। यह रक्त परिक्रमण है। यह कार्य शरीरमें बड़ी शीघ्रतासे होता है, ऐसा अनुमान है कि रक्त को एक परिक्रमण में ६ सेकेंड का समय लगता है।

रक्त की शुद्धि तीन प्रकार से होती है प्रथम फुसफुसों दूसरे वृक्कों और तीसरे त्वचा द्वारा। त्वचा द्वारा रक्त शुद्धिका वर्णन हो चुका है। फुसफुस श्वासयंत्र हैं, हमारे शरीर में दो फुसफुस हैं एक दाहिने और दूसरा बाएं वक्ष में रहता है। इनके द्वारा शरीर में ऑक्सिजन जाकर रुधिर में मिलती है और कार्बनडाईऑक्साइड तथा अन्य उड़नशील विषैले पदार्थ और कुछ जल बाहर निकल जाता है।

शुद्ध वायु जिसमें ऑक्सिजन अधिकता से होता है हमारे नासार्ध्रों द्वारा जाकर टेट्रुए में पहुंचता है और वहां से श्वासनली में चला जाता है। गले से नीचे श्वासनली के दो भाग होजाते हैं एक दाहिने और दूसरी बाएं फुसफुस को जाती है, इन श्वास प्रणालियों की अनेक छोटी श्वासनलियां हो जाती हैं। जिनकी सब से छोटी शाखाएं अणुवीक्षणयंत्र-द्वारा देखी जा सकती हैं। इनमें से प्रत्येक नली फुसफुस के सूक्ष्म कोष्ठोंसे मिली है। इन कोष्ठों या वायुमन्दिरों का आकार

सहतून जैसा होता है और उनके छोटे दानों सदृश कोष्ठों में वायु भरी रहती है। फुसफुस ऐसे असंख्य कोष्ठों से निर्मित है। इन वायुमन्दिरों के समीप रक्तनालियों का जाल बिछा है। यदि फुसफुस को काट कर अणुवीक्षणयंत्र द्वारा देखा जाय तो वह स्पंज से मिलता है। उसमें अनेक छिद्र दिखाई देंगे। ये छिद्र इन्हीं वायुमन्दिरों और रक्तनालियों के द्वार हैं। वायुकोष्ठों की यह स्वाभाविक शक्ति है कि विषैली वायु को रक्त से लेकर वायु में मिला दें और वायु से ओषजन ग्रहण कर लें। इसके अतिरिक्त रक्ताणुओं में एक प्रोटीन होती है जो ओषजन से लाल रंग ग्रहण कर लेती है इस प्रक्रिया से हृदय के दाहिने क्षेपककोष्ठ से प्राप्त स्याहीमाइल अशुद्ध रक्त शुद्ध और रक्तवर्ण होकर हृदय के वामकोष्ठ में पहुंच जाता है। फुसफुसीया शिरायें और धमनी हृदय से चल कर अनेक शाखाओं प्रशाखाओं में होकर ही फुसफुस में मिलती हैं।

फुसफुसों के बाद वृक्कों का नम्बर है। वृक्क भी फुसफुसों की भांति युग्म हैं। क्षुद्रान्त्र के पीछे अधोगा महाधमनी व महाशिरा के दानों ओर एक २ वृक्क रहता है। इनकी सूरत लोबिया के बीज से मिलती है। परिमाण में कोई डेढ़ छटांक होते हैं। प्रत्येक के बीज में एक गड्ढासा होता है उसमें होकर अधोगा वृद्धमनी व महाशिरा की एक २ शाखा इसमें प्रवेश करती है। वृक्कों के नीचे के किनारे से एक एक मूत्रनाली निकलती है ये दोनों मूत्राशय में मिल जाती हैं और फिर मूत्राशय से नीचे एक नली निकलती है और फिर संयुक्त मूत्रप्रणाली शुक्राशय

और प्रोप्टेटग्रन्थि को पार कर शिश्न में होकर उसके मुख पर समाप्त होती है। देखो चित्र नं० ८।

वृक् के भीतर नालियों का समूह है यह नालियां किनारे पर फूली हुई हैं इन फूली हुई नालियोंमें रक्तकेशिकाएँ उपस्थित हैं, इन रक्तकेशिकाओं के रक्त का तरल चूजाता है और नली का फला भाग फिल्टर का काम देता है अतएव उस तरल से यूरियादि पदार्थ (मूत्र) छनकर इन नालियों में चले जाते हैं ये नालियां मिलकर कुछ लम्बी सीधी नालियां हो जाती हैं और इन सब मीनार सदृश नालियों की एक नली होकर बाहर निकलती है। यह मूत्रनाली है। अब रक्त शिराओं की शाखाओं होकर हृदय को लौट जाता है।

इस प्रकार रक्तसे रक्त, रक्त से मांस बनता है। इसके आगे यह कहना कि मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है आधुनिक वैज्ञानिकों को सम्मत नहीं। कार्टलेज से अस्थि का बनना और मज्जा का अस्थि से टपकाना किसी प्रकार कहा मानलें पर मज्जासे वीर्य का होना वे ठीक नहीं मानते। यद्यपि अस्थि और कार्टलेजमें भी रक्त की नालियां हैं और उनको इनसे पोषण पदार्थ मिलता है पर प्रारम्भ में कार्टलेज ही अस्थि की अग्रगामी धातु है, और यदि कार्टलेज को मांस का एक रूप मान लें (जैसा सिद्ध नहीं होता) तो मांस से अस्थि उत्पन्न होती है ऐसा कह सकें, और चूंकि मज्जा केवल अस्थिके अन्दर ही मिलती है इस

से यह भी कहा जा सकता है कि मज्जा का अस्थि से समवाय सम्बन्ध तो है ही शायद जन्यजनकसम्बन्ध भी हो, पर शुक्र की उत्पत्ति तो आधुनिक वैज्ञानिकों के मत में निराले ही ढंग से होती है।

शुक्र को उत्पन्न करने वाली दो ग्रन्थियां हैं। ये अंडकोश में रहती हैं। शिशन के नीचे एक थैली रहती है इसको अंडकोश या वृषण कहते हैं। अंडकोश को टटोलने से उसके भीतर दो सख्ख चीजें मालूम होंगी यही अंड और यही शुक्र ग्रन्थियां हैं। सूक्ष्मदर्शकयन्त्र द्वारा देखने से पता लगता है कि शुक्र-ग्रन्थियां यथार्थ में शुक्र बनाने वाली नलयाकार ग्रन्थियों के समूह हैं। ये नलयाकार ग्रन्थियां अंडों के भीतर सहस्रों की संख्या में दो तीन सौ कोष्ठों में रहती हैं। अंडों के पिछले किनारे से एक लम्बा पतला और कुछ चपटा पिंड लगा रहता है इसको उपांड कहते हैं। टटोलने से यह भी मालूम किया जा सकता है। अंड के कोष्ठों की नलियां एक दूसरे से मिलकर प्रत्येक कोष्ठ से एक या दो नलीं निकल कर अंड के पिछले भाग में एक जाल सा बनाती हैं और यहां से फिर एक दूसरे से मिलकर कोई २०, २५ नलियां अंड से बाहर निकलती हैं। ये नलियां उपांड का सिर बनाती हैं, उपांड के सिर में बहुत सी गुड़ेलियां लगा कर इन सब की एक नली होजाती है जो सर्पाकार गुड़मेड़ा डालती हुई उपांड की पूछ तक चली जाती है वहां से ऊपर जाकर शुक्राशय में मिलती है। यह नली

शुक्रप्रणाली है। अंडकोष्ठों में जो पतली २ नालियां हैं उन में ही शुक्र बनता है और वह इकट्ठा होकर शुक्रप्रणाली द्वारा शुक्राशय में एकत्रित होता है, इसके अतिरिक्त अंडों को एक धमनी और वातसूत्र (ज्ञानतन्तु) जाते हैं और वे जाल रूप समस्त ग्रन्थि में फैल जाते हैं। शुक्र ग्रन्थियों को इस रुधिर के अतिरिक्त जो उन्हें इस धमनी से मिलता है और कोई वस्तु बाहर से नहीं मिलती इस लिये यह विचार कि मज्जा से वीर्य बनता है सिद्ध नहीं होता।

जो वस्तु मैथुनादि द्वारा मूत्र द्वार से बाहर निकलती है उसमें शुक्र के अतिरिक्त कई और रस मिले रहते हैं। शुक्राणु तो १०० में ५ भाग से भी कम होते हैं। उसमें ६० भाग जल, ३ भाग खटिक और स्फुर के योगिकों के, १ भाग सोडियम लवण, १ भाग अन्य लवण तथा शेष ५ भाग में कई प्रकार की सेलें हैं इन्हीं में वे सेलें भी हैं जिन्हें शुक्राणु कहते हैं। अणुचोक्षणयंत्र द्वारा देखने से शुक्राणु बहुत तेजी से दौड़ते हुए कोट प्रतीत होते हैं जिनके गोल मिर और लम्बी पूंछ होती है। एक बूंद वीर्य में शुक्राणु करोड़ों की संख्या में हो सकते हैं। शुक्र प्रणाली से आकर वीर्य शुक्राशय में एकत्रित होता है शुक्राशय में उसमें एक रस मिलता है। शुक्राशय के नीचे सिरे में जहां शुक्र प्रणाली मिली रहती है वहांसे एक पतली नली का आरम्भ होता है, यह नली प्रोस्टेट ग्रन्थि में घुस कर मूत्र मार्ग में खुलती है। इस प्रोस्टेटग्रन्थि के अन्दर कुछ नलयाकार

ग्रन्थियां हैं, जिनसे एक प्रकार का लुआबदार रस उत्पन्न होता है जो शुक्र में मिल जाता है। इसके आगे शिशन की मूल में दो मटरसमान पोले रंग की ग्रन्थियां हैं इन्हें शिशनमूल-ग्रन्थियां कहते हैं। ये दोनों ग्रन्थियां मूत्र मार्ग से दो पतली २ नलियों से जुड़ी हैं। ये भी अपना रस शुक्र में मिला देती हैं। इन तीन रसों के अतिरिक्त शुक्र में शुक्र प्रणाली की श्लैष्मिक कला से भी कुछ जलीयरस मिल जाता है। सन्तानोत्पादन-शक्ति केवल उन शुक्रकीटाणुओं में ही है जो शुक्र ग्रन्थियों में बनते हैं अन्य रस तो उनके सहायक और वाहक मात्र हैं। सामान्यतया ये कीटाणु मनुष्य की १३, १४ वर्ष की अवस्था से बनना प्रारम्भ होजाते हैं पर प्रारम्भ में ये परमाणु सबल और फुर्तीले नहीं होते। सतेज और पुष्ट कीटाणु बीस वर्ष के बाद ही बनते हैं।

शुक्रग्रन्थियां तो मनुष्य को जन्म काल से प्राप्त हैं पर शुक्र कीटाणु १४ वर्ष के बाद बनना प्रारम्भ होते हैं। इस बीच में ये ग्रन्थियां बेकार नहीं रहती। इन ग्रन्थियों में शुक्र के अतिरिक्त एक अन्तःस्त्राव भी बनता है जो सन्तानोत्पत्ति के काम में तो नहीं आता पर रक्त में मिल कर अंगों को पुष्ट और सतेज बनाता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने वर्धनकाल अर्थात् ३० वर्ष पर्यन्त इस वस्तु की बड़ी आवश्यकता है। यदि किसी व्यक्ति के अंड यौवनप्राप्ति से पूर्व निकाल दिये जावें तो वह केवल सन्तानोत्पत्ति में ही असमर्थ न होगा वरन् उस पुरुषका

वर्द्धन भी भलीभांति न होगा तथा यौवन के वाह्य चिन्ह दाढ़ी मूँछ का निकलना, स्वर गाम्भीर्य आदि भी प्रदर्शित न होंगे। बधिया किये हुए बैल और सांड का अन्तर सर्वसाधारण को विदित है। बधिया बैल न केवल सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ होता है प्रत्युत अपनी समान आयु के सांड की अपेक्षा अति निर्बल, बदसूरत और डरपोक भी होता है।

जिस समय ये शुक्रग्रन्थियां शुक्रकीट नहीं बनातीं उस समय इस अंतःस्त्राव को बनाती हैं हमने देखा है कि शुक्राशय बहुत छोटे २ अंग हैं, जिस समय ये शुक्रग्रन्थियां शुक्रकीट बनाने लगती हैं उस समय वे भरने लगते हैं और एक बार भर जाने के बाद फिर खाली नहीं रह सकते। जब मनुष्य मैथुनादि द्वारा उन्हें खाली कर देता है तो शुक्रग्रन्थियों को उन्हें फिर भरना पड़ता है अतएव अंतःस्त्राव उस समय तक बंद रहता है। इससे यह सिद्ध है कि जो व्यक्ति अपना वर्धन उचित रूप से चाहता है उसे अपने वर्धनकाल अर्थात् २५ वा ३० वर्ष की आयु से पूर्व शुक्राशय को खाली करके शुक्रग्रन्थियों को शुक्र बनाने में प्रवृत्त करके अंतःस्त्राव को रोकना न चाहिये। अतएव विवाह करने का वैज्ञानिक समय २५ से ऊपर है और यही कुमारावस्था की प्रथमावधि कहा जा सकती है।

आधुनिक विज्ञान से यह बात तो सिद्ध नहीं होती कि शुक्र मज्जा से बनता है पर इतना अवश्य सिद्ध है कि विकाशक्रम

के अनुसार वीर्य या शुक्र का सब धातुओं में सातवां नम्बर है। अस्थि में मज्जा बन जाने पर ही वीर्य का विकाश शरीर में होता है। इससे सम्भव है कि जो क्रम आयुर्वेद में सात धातुओं की उत्पत्ति का दिया है विकाशक्रम न होकर उत्पत्तिक्रम ही सिद्ध हो, परन्तु अभी तक जिस अवस्था को शारीरिक विज्ञान पहुँच चुका है उससे इसकी कोई सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु साथ ही इससे वीर्य की बहुमूल्यता और उसके रक्षण की महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता।

जिस प्रकार मनुष्यशरीर अपनी रचना में एक उत्तम राजप्राभाद की समता करता है उसी प्रकार उसका सञ्चालन एक बड़े राष्ट्र के प्रबन्ध के सदृश है। राज्य में किसी स्थान पर विप्लव हो, कहीं बाह्य शत्रु ने आक्रमण किया हो, उस का ज्ञान और प्रतीकार राज्य प्रबन्ध के अन्तर्गत है। राजा को अपनी प्रजा के सुख और दुःख के ज्ञान रखने के लिये एक उत्तम केन्द्रीय कार्यालय की आवश्यकता होती है। मनुष्य शरीर में भी ऐसा दक्षर विद्यमान है। बिना इस दक्षर के हुक्म के मजाल क्या है कोई उँगली तक उठाने के, बिना आज्ञा के एक चावल भी इस प्रासाद में नहीं भेजा जा सकता। मनुष्य-शरीर के इस दक्षर का नाम मस्तिष्क है। आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा शरीर के इन पंचेन्द्रियों का ज्ञान और हाथ, पैर, मुख, लिंग और गुदा इन कर्मेन्द्रियों की गति का वास्तविक उद्भवस्थान हमारा मस्तिष्क है। ये इन्द्रियाँ तो उसके

द्वार हैं। अपने शरीर के अंग प्रत्यंगों की स्थिति का ज्ञान तथा वे कार्य भी जिनसे हम बेखबर से प्रतीत होते हैं विना मस्तिष्क के सम्भव नहीं। इन साधारण कार्यों की व्यवस्था-पक उस बुद्धि का, जिसके कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाता है, केन्द्र भी यही मस्तिष्क है। मस्तिष्क अस्थि के दृढ़ खोखले में रहता है जिसे खोपड़ी या कपाल कहते हैं। कपाल की तली के पिछले भाग में एक बड़ा छिद्र है इस छिद्र में होकर रीढ़ के गुरियों के भीतरसे, जिन्हें कशेरुका कहते हैं, एक रज्जु जाती है यह भी उसी वस्तुसे निर्मित है जिससे मस्तिष्क बना है। इसके अतिरिक्त गर्दन, पीठ और छाती के सन्मुख और इधर उधर कुछ पीली गांठें रहती हैं वे ज्ञानतन्तुओं से जुड़ी रहती हैं। इस प्रकार इस ज्ञानमंडार के, जिसे वातमंडल, स्नायुमंडल तथा नाड़ीमंडल कहते हैं, मुख्य तीन भाग हैं। प्रथम मस्तिष्क जो कपालके भीतर रहता है, दूसरा भाग वह रज्जु है जो कशेरुकाओं में होकर जाती है इसे सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं, तीसरा भाग उन ग्रन्थियों का है जिनको पिंगला इसलिये कहते हैं कि इनका रंग कुछ २ पिंगल (पीला) होता है। मस्तिष्क की रचना का विचार करने से उसके दो भाग दिखाई पड़ते हैं एक को वृहत् और दूसरे को लघुमस्तिष्क कहते हैं।

मस्तिष्क को ऊपर से देखने से उसमें बड़ी २ खाइयां पड़ी दिखाई पड़ती हैं। इन खाइयों का बुद्धि से घनिष्ट सम्बन्ध है। इनको सीता कहते हैं क्योंकि जुते हुए खेत के कूड़ों से

जिनका संस्कृत नाम सीता है ये बहुत मिलती हैं। देखा गया है कि बुद्धिमानों की सीताएँ मूर्खों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और गहरी होती हैं। मस्तिष्क का यह भाग धूसर होता है। सूक्ष्मतया निरीक्षण करने से पता चलता है कि ये मस्तिष्क सेलें हैं। इनके नीचे का भाग श्वेत रंग का और सौत्रिक है। यह सौत्रिक भाग वाततन्तुओं के लच्छे हैं जो मस्तिष्क सेलों से निकलते हैं। मस्तिष्क कोष्ठों में विभक्त है जो भीतर से खोखला है, इनके भीतर भूरे रङ्ग का थोड़ा तरल रहता है।

लघु मस्तिष्क का आकार नारियल की गिरी के गोले के समान होता है। इसकी रचना प्रायः बृहत् मस्तिष्क के समान है, पर इसकी सीताएँ बृहत् मस्तिष्क की सीताओं से अधिक गहरी और समानान्तर हैं इससे यह गोभी के कटे भाग के समान दिखाई पड़ता है इसके पत्ते २ से जुड़े प्रतीत होते हैं। बृहत् मस्तिष्क की सीताएँ टेढ़ी मेढ़ी और कम गहरी होती हैं।

सुषुम्ना नाड़ी में भी धूसर भाग, श्वेत भाग और कुछ तरल रहता है परन्तु इसका धूसर भाग बीच में तथा श्वेत भाग बाहर की ओर रहता है। मस्तिष्क से चलकर सुषुम्ना गुदास्थि से जुड़ जाती है। इसके दोनों तरफ़ युग्म में तार निकलते हैं।

शरीर के किसी अङ्ग को काटने से पता लगेगा कि धमनी और शिराओं के अतिरिक्त जो खोखली होती है कुछ ऐसे श्वेत

तार उपस्थित हैं जो टूटने में चीमड़ और काटने में ठोस हैं । ये ज्ञानतन्तु या वातसूत्र हैं । शिराओं और धमनियों की भांति वातसूत्रोंका जाल शरीर भर में फैला है यहां तक कि शरीर की प्रत्येक सेल का किसी न किसी वाततन्तु से सम्बन्ध है । इनमें से कुछ तार मस्तिष्क और सुषुम्ना से चल कर बाह्य अंगों को खबर करते हैं और कुछ तार अंगों से मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते हैं । पहिली भांति के तार केन्द्रत्यागी तार हैं और दूसरी प्रकार के तार केन्द्रगामी तार कहलाते हैं । हमारे मुंह पर मक्खी बैठी और केन्द्रगामी जो उपचर्म की सेलों से लगे हैं मस्तिष्क को खबर करते हैं और मस्तिष्क से केन्द्रत्यागी तारों द्वारा हाथ उठाने की क्रिया कराई जाती है । केन्द्रगामी तार सुषुम्ना होकर जाते हैं अतएव सुषुम्ना के कट जाने से उस भाग से ऊपर का ज्ञान जाता रहता है । पर सिर के भाग में केन्द्रगामी तारों की उत्पत्ति उस इन्द्रिय के ज्ञानसेलों से होती है यथा चाक्षुषकेन्द्रगामी तार चक्षु के आन्तरिक पटल से तथा कानके तारोंकी उत्पत्ति उसके भीतरी भाग से (जिसे कोकिला कहते हैं) हाती है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि शरीर की कुछ गतियां ऐच्छिक और कुछ अनैच्छिक हैं । अनैच्छिक गतियां पिङ्गला द्वारा होती हैं । अनैच्छिक गति वाले अंगों के तारों का पिंगला ग्रंथियों में जाना नितान्त आवश्यक है । ऐसा जान पड़ता है कि कार्य की अधिकता तथा निरंतर मनोयोग की आवश्यकता जान कर

प्रकृति ने बड़े दक्षर की छोटी ब्रांचें बना दी हैं। जिससे उन स्थानों का साधारण कार्य इन्हीं ब्रांचों द्वारा होजाया करता है और उसकी खबर केन्द्रीय दक्षर को नहीं होती। पर कोई विशेष आपत्ति होनेपर केन्द्रीय दक्षतर—मस्तिष्कको खबर दी जाती है। हृदय, फुसफुस, आमाशय, वृक्, यकृत आदि अंगों की गति की खबर मस्तिष्क को नहीं होती इन अङ्गों का सामान्य कार्य पिंगला ग्रन्थियों द्वारा होता है, पिंगला ग्रन्थियां स्वयं मस्तिष्क और सुषुम्ना दोनों से तारों द्वारा जुड़ी हुई हैं।

शरीर विज्ञानियों ने पता लगाया है कि मस्तिष्क में कर्मा-नुसार केन्द्र निर्धारित है, यथा चाक्षुषकेन्द्र मस्तिष्क का वह केन्द्र है जिसका सम्बन्ध दृष्टि से है, जिसका सुनने से सम्बन्ध है वह श्रावणकेन्द्र है इसी प्रकार घ्राणकेन्द्र तथा स्वादादि केन्द्र हैं कर्मेन्द्रियों का एक कार्य गति है अतएव मस्तिष्क का वह भाग जो शरीर की क्रियायों से सम्बन्ध रखता है गतिक्षेत्र कहलाता है। इसी प्रकार संवेदनाक्षेत्र है पर इन केन्द्रों का सम्बन्ध एक दूसरे से भी है और मस्तिष्क को भीतर से देखने से पता चलता है कि एक भाग के तार दूसरे को जाते हैं।

लघु मस्तिष्क का कार्य गतियों को ठीक करना है। एक ही इष्ट गति के लिये बहुधा विरोधी गतियों की आवश्यकता होती है। यथा जब हम कुहनी मोड़ना चाहते हैं तो सामने की पेशियों में संकोच और पिछली में प्रसार की आवश्यकता

होती है। यदि हाथ को उठाते समय हाथ की पिछली पेशी प्रसार के स्थान पर संकुचित होने लगे तो हाथ कदापि न उठे। इस तारतम्य को मिलाना लघुमस्तिष्क का कार्य है। इतना ही नहीं वरन् लघुमस्तिष्क को कामवासनानियन्त्रण का केन्द्र भी कहा जाता है और ऐसे अनेक उदाहरण भी मिले हैं कि जिन मनुष्योंकी मृत्यु कामेच्छा की तृप्तिके आधिक्य से हुई उनका लघुमस्तिष्क चीरनेसे दूषित, सड़ा और सूखा हुआ पाया गया। यह बात निर्विवाद ग्राह्य है कि वीर्य्य स्खलन तथा कामोद्दीपन का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है और शरीर के समस्त स्नायु थकित और शिथिल होजाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लघुमस्तिष्क का शुक्रमंडल से सीधा सम्बन्ध है और इसी शुक्रमंडल का प्रभाव लघुमस्तिष्क पर होता है और चूंकि लघु मस्तिष्क शरीर का गतिनियन्त्रणकेन्द्र भी है अतः समस्त शरीर की गति सम्बन्धी स्नायुएँ शुक्रक्षण से प्रभावित होजाती हैं अतएव वीर्य्य रक्षण से मस्तिष्क को सीधा लाभ होना भी स्वयं सिद्ध है।

कोई २ विद्वान तो वीर्य्य की उत्पत्ति मस्तिष्क से ही मानते हैं, उस दशामें तो शुक्र और मस्तिष्क में कार्यकारण सम्बन्ध ठहरता है। कुछ भी हो वीर्य्यनाश का प्रभाव मनुष्यशरीर पर वही होता है जो मस्तिक क्षय से होता है। देखा गया है कि अधिक वीर्य्यनाश से मनुष्य की स्मरणशक्ति, मननशक्ति समनशक्ति, श्रवणशक्ति तथा नेत्र ज्योतिकी हानि होती है।

मानसिक विकाश ।



शरीर और मन के अवच्छिन्न सम्बन्ध होने में कुछ संदेह नहीं है । मनुष्य को पशुराट् बनानेवाला मानसिक विकाश ही है । यह बुद्धि का ही चमत्कार है जो एक मनुष्य को दूसरे का प्रभु बना देता है और अन्य को संसार का आदरणीय बना देता है । विकाशवादी विद्वानों के सिद्धान्तानुसार मानसिक विकाश के कारण ही मनुष्य अन्य पशुओं से पृथक् हो गया है अन्यथा मानसिक विकाश के पूर्व मनुष्य भी एक साधारण पशु था । मनुष्य पशुसंसार में मानसिक विकाश की चरम सीमा पर है, पर विकाश का अन्त नहीं है, वह निरन्तरगामी है अतः यदि मानसिक विकाश का क्रम परम्परया चला जावे तो मनुष्य न जाने किस उन्नतिको प्राप्त होजाय । कुछ धार्मिक विद्वानों का मत है कि मनुष्य में ईश्वर की प्रतिभा विद्यमान है उस पर केवल कर्मों के आवरण पड़े हुए हैं, मनुष्य आत्मा और ईश्वर परमात्मा है, मनुष्य सञ्चित और ईश्वर सच्चिदानन्द है । जर्मन तत्त्ववेत्ता हीगल का मत है कि संसार ईश्वर का स्वरूप है; वह अनन्त विकाशक्षम है । किसी मत का ग्रहण किया जाय इतना स्पष्ट है कि मनुष्य में अनन्त विकाश की शक्ति है यही अर्थ वेद के छोटे ब्रह्मचारी और बड़े ब्रह्मचारी का है अथात् कुमार अथवा छोटा ब्रह्मचारी केवल उस

बड़े ब्रह्मचारी (ईश्वर) का लघु स्वरूप है। ब्रह्मचारी शब्द में ब्रह्म पद की यही यथार्थता है। जिस मानसिक विकाश ने मनुष्य को पशु से मनुष्य बनाया वही उसको मनुष्य से मानवमुकुट बना सकता है। अथवा मनुष्य के कर्म आवरणों को छिन्न कर उसे देवप्रभ तथा ब्रह्मप्रभ या ब्रह्मस्वरूप बना सकता है।

मनुष्य के दो विभाग हैं। एक विभाग में मनुष्य पशु है और दूसरे में देव है। पशुशक्ति के विकाश का दूसरा नाम शारीरिक उन्नति कहा जा सकता है और देव शक्ति के विकाश का सच्चा अर्थ मानसिक विकाश है। इन दोनों शक्तियों का विकाश ही मनुष्य का पूर्ण विकाश है। जिस प्रकार शारीरिक उन्नति के लिये प्रकृति ने समय निर्दिष्ट कर रक्खा है उसी भांति मानसिक विकाश के लिये मनुष्य जीवन का प्राथमिक काल ही अधिक उपयुक्त है। मनोविज्ञानियों का मत है कि मानसिक विकाश के लिये मनुष्य जीवन के प्रथम २१ वर्ष ही अधिक उपयोगी हैं उनका कहना है कि इस समय के पश्चात् कोई नयी भाषा पूर्णतया प्राप्त नहीं की जा सकती। सम्भव है यह बात अधिकांश में सत्य न हो पर यह तो निश्चिन्त सिद्ध है कि इस समय के पश्चात् मानसिक विकाश उतनी सरलता से नहीं किया जा सकता जितना इस प्राकृतिक समय में। इसके पश्चात् तो शारीरिक शक्तियों के क्षीण होने से मानसिक शक्तियों के हास का रोकना ही एक कार्य हो जाता है।

जिस प्रकार कच्चे मृत्तिकापात्र के ऊपर के चित्रित चित्र चिरस्थायी होजाते हैं उसी प्रकार कुमारावस्था में प्राप्त की गयी विद्या और सद्गुण तथा जमाये हुए शुभ संस्कार हृदय-झूम होकर मनुष्य के भावी जीवन को एक आदर्श जीवन बना देते हैं। एक विद्वान का कथन है "Bend the iron while it is hot" अर्थात् "जब तक लोहा गरम है तभी तक जिस तरफ चाहो मोड़ सकते हो" (ठंडा होने पर नहीं) अतः यह जान लेना आवश्यक है कि कुमारों के क्या कर्त्तव्य हैं। प्रायः प्रत्येक देश के विद्वानों ने अपने देश के कुमारों की शिक्षा और सुधार के उपाय बनलाकर उनके कर्त्तव्यपथ को प्रकाशित कर दिया है और हमारे पूर्वज ऋषियों ने इस अवस्था को ब्रह्मचर्य आश्रम में विभक्त किया है। पूर्वकाल में क्या राजा क्या रंक सब ब्रह्मचर्य से सूत्रबद्ध किये जाते थे और सब को इस व्रत का व्रती बनना पड़ता था।

कुमारों का परम कर्त्तव्य है कि वे न केवल अपने असंयम तथा कुसंस्कारों से अपने स्वाभाविक मानसिक विकाश ही में बाधा डालें किन्तु यह भी ध्यान में रखें कि उनके मानसिक विकाश का प्राकृतिक समय उनके ही हाथ में है जो अति परिमित है। उन्हें इस परिमित प्राकृतिक समय में अपने मानसिक विकाश में पूर्णता प्राप्त करना है और मनुष्य जीवन को सफल बनाने की तैयारी करना है। मनुष्य जीवन का यही स्वर्णयुग है जिसमें वे राजत्व देवत्व तथा अमरत्व प्राप्ति के योग्य बन सकते हैं।

मनोविज्ञानियों ने मानसिक कार्यके तीन विभाग किये हैं। ज्ञान, अनुभव तथा संकल्प समस्त मानसिक वृत्तियां इन्हीं तीनों के अन्तर्गत हैं। सर्व प्रथम संसार के साथ संसर्ग होने से मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है, फिर उस ज्ञान से जो प्रभाव मन के ऊपर पड़ता है वह उसका अनुभव है और ज्ञान तथा अनुभव होने पर कार्य की प्रवृत्ति होती है उसका प्रथम रूप संकल्प है, संकल्प का बाह्य रूप कार्य है। इन्हीं वृत्तियों के विकासको मानसिक विकास कहेंगे, यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये मानसिक वृत्तियां अलग २ कमरों की भांति पृथक् २ नहीं हैं पर तीन रसोंकी भांति प्रत्येक मानसिक कार्य में इनका अनुभव किया जा सकता है। न ज्ञान विना अनुभूति तथा संकल्प के कहीं उपलब्ध है, न विना ज्ञान के अनुभव सम्भव है और न विना संकल्प के अनुभव हो सकता है और संकल्प तो विना ज्ञान या अनुभव के हो ही नहीं सकता। यथा—देवदत्त अपने मित्र को देखता है देखकर प्रसन्न होता है और मिलने को आगे बढ़ता है। यहां पर न मित्र होने के ज्ञान के विना प्रसन्नता सम्भव है न यह सम्भव है कि मित्र जानकर कुछ अनुभूति या प्रवृत्ति देवदत्त के मनमें न हो।

शुद्ध ज्ञान का बाह्य स्वरूप बहुत ही सूक्ष्म है, अनुभव तथा संकल्प का बाह्य स्वरूप शारीरिक विकार तथा कार्य हैं। अनुभव के उत्कट बाह्य स्वरूप क्रोधादि में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। लाल २ नेत्र, फड़कते हुए अधर तमतमाना हुआ बदन देख

कर सहज ही कहा जा सकता है कि अमुक मनुष्य का मन क्रोधाग्निमय है। उत्फुल्ल नेत्र मनप्रसाद की सहज पहिचान है। सड़क पर गाड़ी से बचते हुए मनुष्य के इस कार्यको देख कर उसके संकल्प का अनुमान करना कठिन नहीं है। परन्तु शुद्ध ज्ञान का वाह्य स्वरूप क्या है? ज्ञान का प्रकाश पड़ता तो अवश्य है पर वह अनुभव द्वारा प्रकट होता है इससे वह स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरणार्थ नामस्मरणक्रिया को ले लिया जाय, नाम के ज्ञानाभाव में और उसके ज्ञान होने पर वाह्य स्वरूप में अन्तर अवश्य होता है। यद्यपि ज्ञानाभाव की व्यग्रता ज्ञानाभाव का स्वरूप न थी वह तो कार्य का स्वरूप थी पर ज्ञान होते ही उसका नाश तथा ज्ञानजन्य अनुभव का बदन पर प्रकाश अवश्य ज्ञान होने ही का फल है पर उसमें भी ज्ञान होने की अनुभूति मिली हुई है।

इस पुस्तक का विषय मनोविज्ञान नहीं है और न मानसिक विकाश का पूर्ण विवेचन ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिज्ञा है। अतः ज्ञानतन्तुओं का मस्तिष्क से सम्बन्ध, वाह्य तथा आभ्यन्तर ज्ञान का प्रवाह क्या हैं, किस प्रकार वाह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब ज्ञानतन्तु मस्तिष्क तक ले जाते हैं तथा इन प्रतिबिम्बों के समूह किस प्रकार अनुमान द्वारा विचारोंमें परिवर्तित होजाते हैं, अनुभव की व्युत्पत्ति क्या है, अनुभवजन्य शारीरिक विकारों का उसके साथ क्या सम्बन्ध है आदि बातों का ज्ञान जिन कुमारों को अभीष्ट हो उन्हें उचित है कि किसी मनो-

विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ का अध्ययन करें, यहां पर मानसिक विकास की कुछ मुख्य बातें ही दिखाई जा सकी हैं ।

ज्ञान सम्पादन दो तरह से होसकता है, एक तो स्वयं दूसरे अन्धद्वारा सम्पादन किये हुए ज्ञान को अपने में आधान करने से, यथा किसी वस्तु को स्वयं चक्षु द्वारा देख कर प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्तकरना एक प्रकार है और दूसरे की देखी हुई वस्तु के वर्णन को सुनकर अपने ज्ञान भंडार में मिलाना दूसरा प्रकार है । एक को आत्मसम्पादित ज्ञान और दूसरे को गुरुदत्तज्ञान कहते हैं, मनुष्य ज्ञान के इन दोनों साधनों में दूसरे का विस्तृत वर्णन आगे के प्रकरण में किया जावेगा ।

आत्मज्ञान के दो साधन हैं एक निरीक्षण दूसरा पर्यवेक्षण (Observation and experiment) अर्थात् एक तो किसी वस्तु को यथावत् अवस्था में देखना, दूसरा उसको ऐसे अनुकूल और उचित उपकरणों में निरीक्षण करना जिससे उस वस्तु का यथावत् तथा निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा-सके । इन दोनों में पर्यवेक्षण प्रथम की अपेक्षा ज्ञान का उत्तम साधन है । इस प्रकार से अधिक से अधिक तथा निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जासकता है । इसमें भ्रम की सम्भावना न्यून रहती है । पर सभी वस्तुओं को हम अपने अधीन वातावरण में नहीं रख सकते । कुछ वस्तुएँ इतनी विस्तृत हैं कि उनके ऊपर हमारा कुछ भी प्रभुत्व नहीं यथा पृथिवी, चन्द्र, सूर्यादि इनके ज्ञान के विषय में एक मात्र साधन निरीक्षण है पर हम

इस निरीक्षण को वैज्ञानिक सहायता से अधिक उत्तम बना सकते हैं। यथा दूरबीन की सहायता से हम चन्द्रमा को अधिक स्पष्ट देख सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो विशेष उपयोगी तथा बहुमूल्य हैं और हम उनको ज्ञान के निमित्त पर्यवेक्षण में रख कर खतरे में नहीं डालना चाहते यथा मनुष्य शरीर को पर्यवेक्षण के लिये उस पर औषधियों का प्रभाव जानने के लिये नाना विधि औषधियों का प्रयोग कर जीवन का खतरे में डालना उचित नहीं समझा जाता।

ज्ञान की उत्तमता तथा प्रचुरता इन्हीं दोनों ज्ञान क्रमों पर अवलम्बित है। इस बात के इतिहास में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं कि निरीक्षण की आदत ने मनुष्यों को महान बना दिया है। चन्द्रगुप्त के शयनगृह में चींटियों को चावल लेजाते हुए देख कर चाणक्य सुरंग में छिपे हुए घातकों का पता लगा लेता है। पत्तीली के मुंह पर उड़ते हुए ढक्कन का निरीक्षण ही वाष्प-विज्ञान का जनक है। संसार के सबसे बड़े रहस्य कुमारों के प्रातः दिन सामने आने वाले पदार्थों में ही बिखरे पड़े हैं। उनको महत्ता देना केवल उत्तम निरीक्षण पर निर्भर है; मानसिक विकाश का ज्ञानसम्पादन प्रथम सोपान है और उसमें उत्तम निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण का अभ्यास ही पहिली सीढ़ी है।

ज्ञानसम्पादनकला में स्मरणशक्ति का बहुत बड़ा भाग है, बिना इसके विकाश या उन्नति सर्वथा असम्भव है। स्मरणशक्ति ईश्वर प्रदत्त वस्तु है। जन्म से जितनी शक्ति मस्तिष्क

में रख दी गई है उससे अधिक बढ़ाना असम्भव है पर प्राप्त शक्ति का हास कर देना मनुष्य का कार्य है । अपने शारीरिक असंयम तथा स्मरण के अप्रयोग वा दुरुपयोग से वह कुंठित, लुप्त तथा नष्ट हो सकती है । जितनी धारणाशक्ति जन्म से प्राप्त होती है वह सब उत्पत्ति काल से ही यथावत् विकसित नहीं हो जाती वह शक्ति भी समयाधीन है और शारीरिक विकाश के साथ वृद्धि को प्राप्त होती है । बहुतों में तो अब्रह्मचर्यादि कारणों से पूर्ण विकाश को प्राप्त नहीं हो पाती, किसी २ में रुग्ण तथा क्षुब्ध रह जाती है और वे उसका पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते । इस धारणाशक्ति के विकाश का समय कौमारावस्था ही है प्रायः २५ वर्ष की आयु तक जैसी क्षमता इसमें प्राप्त हो जाती है उससे अधिक फिर नहीं हो सकती ।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि कुमारों को इस शक्ति के विषय में असावधान रह जाना चाहिये, यद्यपि मस्तिष्क की धारणाक्षमता की वृद्धि कुमारों के हाथ में नहीं है पर उस क्षमता को यथावत् स्थिर रखना उसका पूर्ण विकाश हो जाने देना तथा उसका उत्तम प्रयोग तो उनके ही आधीन है । परमात्मा ने स्यात् ही ऐसा अक्षममस्तिष्क मनुष्य पैदा किया हो कि जो प्राकृतिकरूपेण असफल जीवन रहने योग्य हो । उदाहरणार्थ एक कुमार को जन्मतः चौदह आने स्मरणशक्ति-क्षमता प्राप्त है अर्थात् यदि उसका मस्तिष्क पूर्ण रूप से विक-

सित हो तो चौदह आने भर स्मरणशक्ति वाला होगा और दूसरे को केवल आठ आने क्षमता है दोनों दस वर्ष की आयु तक अपनी शक्ति को यथावत् बढ़ाते रहें एक ने ५ आने शक्ति प्राप्त की और दूसरे ने केवल ३ आने, पर आगे चल कर प्रथम असंयमी हो जाता है दूसरे का विकास यथावत् है फल यह होगा कि २० वर्ष की अवस्था में प्रथम की शक्ति ७ आने होगी और दूसरे की यदि कम न हुई तो ५ या कुछ वृद्धि को प्राप्त हुई ६ आना हो जायगी ।

ऐसा दृष्टिगोचर हुआ है कि कुछ मनुष्य अधिक बातें तो स्मरण नहीं रख सकते पर समय की सब बातें याद रखते हैं । सम्भव है एक विद्यार्थी को कालिज के समस्त विद्यार्थियों के नाम याद हों और दूसरे को कार्यार्थ केवल २५ वा ३०, पर जो समय पर उचित नाम उपस्थित रखने में क्षम हो और प्रथम को अपनी नामावली दुहराने की आवश्यकता पड़े तो यह दूसरे प्रकार की शक्ति यद्यपि प्रचुर नहीं है तथापि अधिक उपयोगी है । इस उपयोगिता के गुण को कुमार यदि चाहें तो बढ़ा सकते हैं इसका एक मात्र साधन मनोयोग तथा उचित निरीक्षण है ।

मनोयोग या चित्तवृत्तिनिरोध के अनेक लाभ हैं मानसिक विकास तथा आत्मोज्ज्वलि ज्ञान सम्पादन का उत्तम साधन है । मन सब इन्द्रियों का राजा है उसके वश में होते ही समस्त इन्द्रियां वशवर्तिनी होजाती हैं अतएव मनोयोग

से किये हुए कार्य में एक प्रकार से सामूहिक शक्ति का लाभ होता है इसी लिये मनोयोग से किया हुआ कार्य सफल होता है, परन्तु मन जैसी चंचल वस्तु को वश में करना निरन्तर अभ्यास से ही सम्भव है। गीता में भगवान् कृष्ण का आदेश है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलं ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—हे अर्जुन मन अत्यन्त चंचल होता है उसका बांधना अत्यन्त कठिन है इसमें सन्देह नहीं पर वह अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है।

मन में अनेक विचार एक के बाद दूसरे आते जाते रहते हैं। इस विचार प्रवाह को रोकना ही मनोयोग का प्रथम साधन है। मन में से जहाँ विचारों का तांता दूर हुआ वहाँ इस चंचल तुरंग के हाथ पैर काबू में आगये फिर इससे जो चाहे करा लेता सुगम है। बस मनोयोगाभ्यास का प्रारम्भ इस विचारधारा को रोकने से करना चाहिये। इसके लिये मन को एक विचार पर स्थिर करना चाहिये। एक स्थान पर बैठ कर किसी एक साधारण वस्तु को लेकर मन को उसी पर टिका देवे। इस क्रिया में प्रथम कठिनता प्राप्त होगी मन अनायास इधर उधर भागने लगेगा, परन्तु सचेतनभाव से तुरन्त ही उस वस्तु पर खींच लावे। पन्द्रह दिवस तक प्रति दिन ५ मिनट यह अभ्यास करने से मन में स्थिरता आजा-

धैर्यगी। बहुधा ऐसा होता है कि मन एकाग्र होने के बजाय घबड़ा कर निद्रा की गोद में जाना चाहता है इस समय सतर्क रहना चाहिये। इसके पश्चात् वस्तु सम्बन्धी विचारों में मन को धुमाना चाहिये अर्थात् उसकी प्रत्येक स्थिति पर मन को जमाना चाहिये बस अब वह समय आयेगा जब मनोयोग अपना फल दिखाने लगेगा और मन बड़े २ विलक्षण भाव उस वस्तु के विषय में उपस्थित करने लगेगा और मानसिक विकाश का अभ्यास हो जावेगा। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिये व्यायाम की आवश्यकता है उसी प्रकार बुद्धि विकाश के लिये मानसिक व्यायाम की आवश्यकता है अतः व्यायाम के साथ प्रतिदिन प्राणायाम करना चाहिये इसके करने से इन्द्रियां शुद्ध और वश में होतीं तथा शारीरिक और मानसिक बल बढ़ता है।

मन की दूसरी वृत्ति अनुभूति और उसके विकाश का विशेष सम्बन्ध कुमारों के सामाजिक जीवन से है तथा मन की तीसरी वृत्ति संकल्प अथवा कार्यप्रवृत्ति कुमारों के जीवन सफल्य से सम्बन्ध रखती है और उसके विकाश और उचित उपयोग पर उनके जीवन की सफलता निर्भर है। इन दोनों विषयों का विशद वर्णन दो प्रथक् २ प्रकरणों में आगे किया जावेगा।

विद्या और गुरु सेवा ।

मातेव रक्षति पितेव हिते निमुङ्क्ते,
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मीन्तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं,
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

अर्थात्—“विद्या माता की भांति रक्षा करती है, पितावत् हित में लगाती, स्त्री की तरह दुःख को दूर कर सुख देती है, लक्ष्मी को बढ़ाती तथा कीर्ति को फैलाता है यह कल्पलता की भांति क्या २ नहीं करती (अर्थात् सब कुछ करती है)”

पहिले लिखा जाचुका है कि ज्ञान दो प्रकार का है आत्म-सम्पादित तथा गुरुदत्त, आत्मज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और गुरु प्राप्त परोक्षज्ञान, यह ठीक है कि परोक्ष ज्ञान उतना निश्च-यात्मक नहीं प्रतीत होता जितना प्रत्यक्ष, न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष ही श्रेष्ठ प्रमाण है, पर संसार में यह सर्वथा सत्य नहीं कहा जासकता, हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हमें धोखा दे सकता है, और परोक्ष अर्थात् अन्य प्राप्त ज्ञान सत्य ठहर सकता है यथा हमें रस्सी को देख कर सर्प का भ्रम हो सकता है और दूसरा मनुष्य जो परीक्षा कर चुका है उसको रस्सी का भ्रम नहीं

होता, और उसकी बताई हुई बात ही सत्य होती है अतः सर्वत्र अपनी इन्द्रियों का भरोसा नहीं किया जा सकता ।

इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य संशयात्मा होकर प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने पर उद्यत होजावे तो उसका ज्ञान अत्यल्प होगा तथा वह किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त न करसकेगा क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु दूसरे से सम्बन्धित है अतः प्रत्यक्षज्ञान को ही निश्चयात्मक ज्ञान मानने वालों के लिये जब तक संसार की समस्त सम्बद्ध वस्तुओं का ज्ञान न होजाय और प्रत्यक्ष न हो संदेह दूर नहीं हो सकता । न संसार की सब वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान एक जन्म में होसकता है न सर्वथा प्रत्यक्षज्ञान से काम चल सकता है फिर बिना परोक्षज्ञान के संसार में ज्ञानोन्नति भी तो नहीं हांसकती क्योंकि उस दशा में सबको प्रारम्भ करना पड़ेगा ।

किन्हीं २ अंशों में तो परोक्षज्ञान प्रत्यक्षज्ञान से अधिक प्रामाणिक और लाभदायक है । परोक्षज्ञान वही ठहरसकता है जो निश्चयात्मक हो क्योंकि संदिग्ध ज्ञान भ्रमपूर्ण सिद्ध होने पर छोड़ दिया जाता है और अन्त में सार वस्तु ही रह जाती है । वास्तव में परोक्षज्ञान जो अन्त में चिरस्थायी होता है वह बहुतों का परीक्षित प्रत्यक्ष होता है । आप्तप्रमाण प्रत्यक्ष ही है पर वह हमारा प्रत्यक्ष नहीं है जो भ्रमात्मक भी होसकता है, वह आप्तप्रत्यक्ष है और उसकी प्रामाणिकता उसमें भ्रम की असम्भवता पर ही अवलम्बित है ।

ज्ञान को मनुष्य का नेत्र कहा गया है पशु और मनुष्य में यदि अन्तर है तो इसी ज्ञान का । अज्ञानी मनुष्यशरीर प्राप्त होते हुए भी मनुष्ययोनि कहलाने के योग्य नहीं होता मानो वह मानव समाज के लिये जन्मा ही नहीं है, यही विचार आर्यों के उपनयन संस्कार का आधार है । जिसके विधिपूर्वक होने से मनुष्य द्विज पदवी को प्राप्त होता है यथा:—

आचार्यउपनयमानो ब्रह्म-
चारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रिंस्तिष्ठ उदरे विभर्ति तं
जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

अथर्व० कां० ११ अनु० ३ सू० ७

अर्थात्—“ब्रह्मचारीको आचार्य अपने पास लाकर (अथवा यज्ञोपवीत करके) अपने अन्तस् में लेजाता है और उसको तीन रात्रि पर्यन्त अपने उदर में रखता है तब उसको उत्पन्न हुआ देखने के लिये देवगण एकत्रित होते हैं” इसका तात्पर्य यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी को दीक्षित करके अपने पास आने का अधिकार देता है और जब ब्रह्मचारी उसके पास पहुँचता है, आचार्य का अधिकारी शिष्य होजाता है तो आचार्य उसे अपने हृदय में भरे हुए विद्याभंडार में प्रवेश कराता है और

तब तक नहीं छोड़ता जब तक ब्रह्मचारी का अन्धकाररूपी संशय नष्ट हुआ नहीं समझ लेता। उस विद्याभंडार से ब्रह्मचारी अपनी पशुयोनि को छोड़ पीछे मनुष्य हुआ निकलता है, जिस प्रकार मनुष्यबीज माता के गर्भ में विकाश पाकर बालक बन कर निकलता है उसी प्रकार बीजावस्था में मानव संस्कारों को लेकर आचार्य के पास पहुंचा हुआ ब्रह्मचारी उन संस्कारों को आचार्य के ज्ञानभंडार में बैठा हुआ पूर्णतया विकसित करके मनुष्य होकर निकलता है। और इस प्रकार का विकसित मानस ब्रह्मचारी ही संसार के विद्वानों की दृष्टि या ध्यान का अधिकारी है उसी से देवगण आशा करते हैं।

जिस समय २१ वर्षीय विलियम पिट (Pitt the younger) के हाथ में इंग्लैंड की बागडोर दी गई क्या वहां के विद्वान आखें फाड़ २ कर नहीं देखते थे कि देखें यह बालक क्या करता है। क्या विश्वामित्र से विद्वान और तपस्वी तथा देवगण धनुषशाला में खड़े हुए राम के देखने को उपस्थित नहीं हुए थे? क्या भारतीय कुमारों के हृदय में यह लालसा नहीं है कि उनकी ओर संसार के विद्वान और बलशाली पुरुषों की आखें लगी हों, यदि उनकी यह उत्कट इच्छा है तो इस दशा की प्राप्ति के लिये उन्हें आचार्य के समीप जाकर उसके हृदय में भरे हुए ज्ञानभंडार की कुंजी प्राप्त कर ज्ञानभंडार में प्रवेश कर समस्त संशयों को मूलोच्छेद करना होगा।

कम से कम ८ से लेकर २५ वर्ष की आयु तक गुरु के पास रह कर विद्याध्ययन करना ब्रह्मचर्य आश्रम का मुख्य

उद्देश्य है। जिस प्रकार हमको बाहरी वस्तुओं के देखने के लिये चर्मचक्षुओं की आवश्यकता है इसी प्रकार मनुष्य के अन्तर्गढ़ नेत्र विद्या हैं। कहा भी है “नास्ति विद्या समं चक्षुः” अर्थात् विद्या के समान दूसरा नेत्र नहीं है, मनुष्य को संसार में महत्व प्राप्त कराके ईश्वर तक पहुँचाने का सोपान विद्या ही है। संसार के समस्त व्यापार और कला कौशल यदि विद्या से प्राप्त हुई समझ के साथ किए जायें तो अत्युत्तम और लाभदायक हो सकते हैं।

जिस प्रकार हमारे शरीर के पोषकधान्यों के पैदा करने के लिये जल की आवश्यकता है उसी प्रकार अपने देश को पुष्ट कर प्रतापशाली और गुणसम्पन्न बनाने के लिये विद्यामृत-वारि की आवश्यकता है। मुट्ठी भर विद्वान करोड़ों अपाठित मनुष्यों पर शासन कर सकते हैं, यह विद्या ही का बल और प्रताप है कि कई सहस्र मील दूर एक छोटे से टापू के रहने वाले विदेशी शासक अपने बुद्धि रूपी अंकुश द्वारा भारतवर्ष रूपी बड़े हाथी को वश में किये हुए हैं। विद्वान पुरुष संसार की क्षुद्रातिक्षुद्र वस्तुओं को बहुमूल्य बनाता और बड़े २ भयंकर अवसर उपस्थित होने पर अपने उद्धार का मार्ग ढूँढ़ लेता है, कहा है “विद्यया लभते सर्वम्” अर्थात् विद्या से सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

जिस उद्देश्य से जो वस्तु प्राप्त की जाती है उससे अधिक लाभ शक्ति दुस्तर है। आज कल अधिकांश कुमारों को उनके

संरक्षक उन्हें सरकारी नौकरी की प्राप्ति के उद्देश्य से विद्या-ध्ययन कराते हैं अतः भारतवर्ष में आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने देश में पठित दान्ती का समूह उत्पन्न कर दिया है। वास्तव में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में बीजरूप से उपस्थित संस्कारों को विकसित करना है, प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उससे उचित लाभ उठाना है, रुपया पैदा करना तो उसका अवश्यम्भावी फल है उसके लिये विद्याप्राप्ति वैसी ही है जैसे मुखसंचालन के लिये भोजन करना, जब बुभुक्षा दूर करने के लिये भोजन करोगे तो मुखसंचालन तो करना ही पड़ेगा।

विद्वान् पुरुष साधारण वस्तुओं से अधिकाधिक लाभ उठा सकता है मनुष्य समाज से उत्तम बर्ताव कर स्वार्थ-साधन और परांपकार भी कर सकता है। विद्या एक प्रकार का प्रकाश है उससे अनेकों छिपी हुई वस्तुओं का पता लग जाता है उसके द्वारा मनुष्य विराट् और सम्राट् बन सकता है।

याद रखो संसार की अन्य वस्तुओं की भांति विद्या रुपया पैसा देकर नहीं प्राप्त की जासकती किन्तु उसकी प्राप्ति का द्वार परिश्रम और गुरुसेवा है। ऋषिऋण उन तीन ऋणों में से एक है जो मानवधर्मशास्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र के ऊपर रहते हैं। हमारे शास्त्रों में गुरु की बड़ी महिमा कही है कोई २ तो यहां तक कहते हैं कि गुरु के बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती और ठीक भी है “ज्ञानान्मुक्तिः”

मुक्ति ज्ञान से होती है और ज्ञान का द्वार गुरु है इसकी सेवा बिना न विद्या आसकती न धन और यश की प्राप्ति सम्भव है । तात्पर्य यह कि गुरु ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों का द्वार है ।

अपने को गुरु से भी गुरु माननेवाले विद्यार्थी कुछ नहीं सीख सकते, अभिमानी और अर्द्धदग्ध शिष्य के लिये वृहस्पति भी अलम् नहीं है । विद्या प्राप्ति के लिये सहनशील और ग्रहणशील, धन और यश के लिये विनीत और सुधीर तथा धर्म के लिये परोपकारी और उदार होना आवश्यक है । कुमारों को ऐसा स्वभाव डालना चाहिये कि जिस किसी से मिलें उससे कुछ न कुछ सीख लेवें । यह जीवन सीखने के लिये है । आर्यकुमारों के लिये दत्तात्रेय महाराज का कितना उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित है जिनकी गुरुपरम्परा में सर्प और मकड़ी तक हैं * । कहा भी है:—

कबहुं न गुण को छोड़िये यदपि नीच पै होय ।

पड़ो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय ॥

*पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः

कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकद्गजः

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः

कुमारो शरकृतसर्प उर्णनाभिः सुपेशकृत

जो अपने को भरा पूरा देखता है उसको अधिक करने का अवसर ही नहीं वह अपनी कुछ उन्नति नहीं कर सकता । शिक्षाप्राप्ति का कोई अवसर चूकना उचित नहीं है । यदि कोई विद्यार्थी यह प्रण करले कि वह प्रत्येक दिवस पांच शब्द सीखेगा और जिस मनुष्य से वह मिलेगा कुछ सीख लेगा तो अचिरकाल में उसका कोष महान से महान विश्वकोष से भी बढ़ जायगा और संसार के मनुष्यों के अधिकांश गुण उसमें आजावेंगे ।

अचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।

जीमूता आसन्तसत्त्वानस्तैरिदं स्वरा भूतम् ॥

अथर्व० कां० ११

अर्थात्—“आचार्य मृत्यु (पशु जन्म) का अन्तक है और मानसिक जन्म का देने वाला है वरुण पापनिवारक चन्द्र आल्हाद करने वाला औषधि रूप अर्थात् दोषनाशक दुग्ध के समान बल वीर्य का देने वाला तथा मेघवत् शुष्क आत्मा को हरा भरा करने वाला है क्योंकि उसके कारण ही यह शरीर (स्वत्व) है” ।

कठोपनिषद् में कथा है कि ब्रह्मचारी नचिकेता आचार्य मृत्यु के पास जाता है और उसको अपनी सेवा से प्रसन्न कर तीन वर प्राप्त करता है वे वर आत्मविद्या, जगद्विद्या तथा कर्म-विद्या नामक तीन विद्याएँ हैं इसका तात्पर्य यह है कि कुमारों को यदि वे इन वर रूप तीन विद्याओं को प्राप्त करना चाहते हैं मृत्यु के पास जाना पड़ेगा अर्थात् आत्मसमर्पण करना

होगा क्योंकि आचार्य में सर्व शक्तियें हैं वह कुमारों को पुन-
जन्म देगा और वह जन्म उसकी प्रथम योनि से कहीं श्रेष्ठतर
श्लाघ्य योनि होगी ।

यथा खात्वा खनित्रेण भूतले वारि विन्दति ।

तथा गुरुगतां विद्या शुश्रूषुरधिगच्छति ॥

अर्थात्—“जैसे मनुष्य खंते से खनकर पृथ्वी से जल
निकाल लेता है वैसे ही गुरु की सेवा करनेवाला शिष्य गुरु में
भरी हुई विद्याओं की प्राप्ति होता है” । सम्भव है कि इस सेवा
के साथ कड़ी २ फटकारें भी सहना पड़ें पर गुरु के दास बन
कर ही तुम अपने तथा औरों के स्वामी बन सकते हो और अपने
मान का बलिदान करके ही विद्या स्तु और अखण्ड सुख पासकते
हो तथा गुरु का पूजन और सम्मान करके ही अपनी पूजा
और सम्मान के पात्र बन सकते हो । विद्या की प्राप्ति कर
उसका फल भोगने के लिये प्रत्येक कुमार को वीर्यरक्षा की
आवश्यकता है, ब्रह्मचर्य और विद्या प्राप्ति में घनिष्ट सम्बन्ध है ।



चरित्रसंगठन ।



“When wealth is lost nothing is lost,
When health is lost something is lost,
When character is lost all is lost.”

अर्थात्—“यदि तुमने धन खोया तो कुछ नहीं खोया यदि स्वास्थ्य खोया तो कुछ खोया पर यदि अपना आचरण खोया तो सब कुछ खो दिया”

मनुष्य अपने चरित्र से जाना जाता है, मनुष्यता के लिये धन या बल की आवश्यकता नहीं पड़ती, निर्धन धनवान और धनवान निर्धन होजाय, बलवान रोग ग्रस्त होकर निर्बल होजाय तथा निर्बल समयानुकूल आचरण से बल प्राप्त करले, पर इससे मनुष्य की मनुष्यता में अन्तर नहीं आता धन तथा ऐश्वर्य बाह्य वस्तुएं हैं बल का सम्बन्ध शरीर से है पर चरित्र का सम्बन्ध आत्मा से है। चरित्रहीन मनुष्य चाहे कितना ऐश्वर्यसम्पन्न क्यों न हो कितना ही बलवान क्यों न हो, यद्यपि धन और बल भी चरित्रापेक्षी हैं, कौड़ी काम का नहीं।

मनुष्य का जीवन चरित्रमय है उसमें जो चेतन शक्ति है वह उससे कुछ न कुछ चरित्र अवश्य अङ्कित करायेगी प्रश्न केवल इतना है कि अच्छा या बुरा, यदि चलते हुए घोड़े को सुमार्ग पर नहीं डाला जायगा तो वह कुमार्गगामी होकर

सवार के नाश का कारण होगा बस उसी प्रकार यदि चरित्र सुधारने का उद्योग न किया जाय तो यह सम्भव ही नहीं कि मनुष्य निश्चरित्र रह जाय अवश्यमेव वह शक्ति दुश्चरित्रा हो जावेगी। जिस प्रकार दुष्टवातावरण का प्रभाव शरीर पर विपैला पड़ता है उसी प्रकार कुसङ्गति का प्रभाव चरित्र पर बिना पड़े नहीं रह सकता। यह तो असम्भव है कि सब संसार सच्चरित्र होजाय अतः सर्वथा शुद्ध वातावरण का होना भी सर्वत्र प्राप्त नहीं, अतः यदि चरित्र बनाने पर ध्यान न दिया जाय तो उस दुष्ट वातावरण का प्रभाव चरित्र पर अवश्यम्भावी है, इस विपाक्त सङ्गति के दुष्प्रभाव का निराकरण करने के लिये चरित्रसंगठन की आवश्यकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य का स्वभाव पतनशील है, यदि उसको उन्नत न किया जाय तो स्थिर न रह कर उसका अधःपतन होने लगता है। इसका एक यह भी कारण है कि मनुष्य संसाररूपी महासागर में एक बिन्दुवत् है उस पर समस्त संसार का प्रभाव प्रतिक्षण पड़ता है उसे अपना व्यक्तित्व स्थिर रखने के लिये उन्नतिशील होने की आवश्यकता है उसका यह भी कर्त्तव्य है कि अपना व्यक्तित्व स्थिर रखे और उसका प्रभाव दूसरों पर डाले। मनुष्य का व्यक्तित्व उसका चरित्र है। चरित्रहानि के अर्थ व्यक्तित्वनाश के हैं। जहां एक क्षण असावधानी हुई कि चरित्र में मोरचा लगा और व्यक्तित्व का हास प्रारम्भ हुआ अतएव

कुमारों का परम कर्त्तव्य है कि अपने चरित्रसंगठन में त्रुटि न होने दें।

संसार में किसी वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होजाता प्रत्येक कार्य अपना प्रभाव संसार पर चिरस्थायी छोड़ जाता है उठना, बैठना, हँसना, बोलना आदि सभी कार्यों का प्रभाव संसार पर अमिट पड़ता है। प्रत्येक शिष्ट अथवा दुष्ट कार्य संसारपट्टिका पर अमिट स्याही से लिखा जाता है। मनुष्य-मात्र की इस दृष्टि से बड़ी उत्तरदायिकता है, दुष्ट चरित्र पुरुष अपने दुराचार का बुरा प्रभाव संसार पर डाले बिना नहीं रहता है। यह समझ बैठना कि यदि हम बिगड़ते हैं तो किसी के बाप का क्या बिगड़ता है बड़ी भूल है। अपने चरित्र को न सँभालने वाला अपना नाश तो करता ही है किन्तु संसार का भी बड़ा अहित करता है; वह संसार के साथ पाप करता है उसका प्रायश्चित्त उसको अवश्य करना पड़ेगा।

आजकल कुमारों के चरित्र संगठन के सम्बन्ध में जिननी असावधानी देखी जाती है उतनी पशुओं के विषय में भी नहीं की जाती। लोग गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते, बिल्ली तथा मुर्गियों के चरित्र सुधारने का तो प्रयत्न करते हैं पर अपने हृदयखण्ड पुत्र तथा पुत्रियों को बन की झाड़ियों की भाँति स्वतः बढ़ने के लिये छोड़ देते हैं। कुमारों को पुस्तकों के बोझ से लादने के लिये सहस्रशः स्कूल और अनेकों कालिज खुले हैं पर ऐसे कितने विद्यालय हैं जिनमें सदाचार तथा चरित्र-

संगठन पर एक घंटा भी व्यय किया जाता है या कोर्स में कोई पुस्तक इस विषय पर नियत है। जहां खेल कूद के लिये पारितोषिक, प्रमाणपत्र तथा पदक नियत हैं क्या सदाचार के लिये भी कहीं ऐसा आयोजन है? कतिपय मत सम्बन्धी स्कूलों में सरकार से निश्चित पाठविधि के अतिरिक्त कुछ और पुस्तकें नियत हैं उनमें मुसलमानी तथा ईसाई विद्यालयों में बाइबिल तथा कुरान नियत है। चरित्र सुधार का कुछ भी प्रबन्ध नहीं है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि कुरान और बाइबिलमें अच्छी शिक्षाओं का सर्वथा अभाव है पर मतावलम्बन तक ही सदाचार परिमित नहीं। और उन स्कूलों में भी यह पुस्तकें केवल दिखाने के लिये रहती हैं इधर सरकारी रुपये से चलने वाले विद्यालयों में तो सदाचारशिक्षण होवा होरहा है। स्कूल के मास्टर और कालिज के प्रोफ़ेसरों को नियत करते समय जहां यह पूछा जाता है कि अमुक मास्टर वा प्रोफ़ेसर साहब किस डिग्रेशन में पास हैं वा किस विद्यालय के ग्रेजुएट हैं वहां इस बात का कदाचित ही ध्यान रक्खा जाता हो कि उक्त महाशय कितने चरित्रवान हैं।

छात्रालयों के निरीक्षक महाशय एक मासमें दो चार बार कुछ मिनटों के लिये छात्रावास का चक्कर लगा कर ही उत्तम निरीक्षक होने के अधिकारी बन जाते हैं। उन्हें इस बात से क्या प्रयोजन है कि विद्यार्थी की मेज़ पर कैसा साहित्य है उसके कमरे में २४ घंटे क्या व्यवहार होता है। सन्ध्या समय

इतना गुलगपाड़ा क्यों है, रात्रिको छात्रालय के कितने विद्यार्थी नौटंकी देखने गये हैं, दिनके समय छात्रावास में कैसे मनुष्यों का आना जाना होता है आदि बातें जानना सुपरिण्टेण्डेण्ट साहबके कर्त्तव्य में सम्मिलित नहीं होतीं मानो स्कूल तथा कॉलेजके विद्यार्थियों का सदाचार से कोई सम्बन्ध ही नहीं । अधिकतर अंग्रेजी स्कूलों के छात्रावास दुराचरण शिक्षा की पाठशाला का काम दे रहे हैं । अधिकांश बुराइयां जो कुमारों के गले मढ़ जाती हैं जिनसे छुटकारा पाना उनके आगामी जीवन में असम्भव सा होजाता है उन्हें इन छात्रावासों में सीखने को मिलती हैं ।

इस असावधानी का उत्तरदायित्व अधिकतर उनके संरक्षकों पर है जो अपने बालकों को जान बूझ कर ऐसे स्थानों में रखते हैं इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है कि जिन संरक्षकों की ये कुमार भावी आशालता और बुढ़ापे की लकड़ी हैं वे ही उनके चरित्र की ओर से उदासीन होजायँ । न वे अपने बालकों के सुधार के विषय में कभी चिन्ता करते हैं न दूसरों की आलोचना सुनना चाहते हैं । वेचारे कुमारों को अपना कर्त्तव्यपथ स्वयं ढूँढना पड़ता है ।

सञ्चरित्र वह है जिससे अपना व दूसरे का हित हो तथा जो सदा परिणाम में इष्ट साधक हो । वह चरित्र सत नहीं जो एक उचित समय पर सब ही के लिये हितकारक न हो ।

गोस्वामी तुलसीदासजी अपने सन्तलक्षणप्रदर्शन में सच्चरित्रता का अच्छा चित्र देते हैं।

संत असंतन की अम करनी * जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥
काटे परसु मलय सुनु भाई * निज गुण देइ सुगन्ध बसाई ॥

ताते सुर सीसन चढ़त, जग बल्लभ श्रीखंड ।

अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दंड ॥

विषय अलम्पट शील गुणाकर * परदुख दुख सुख सुख देखेपर ॥
सम अभूत रिपु विमद विरागी * लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी ॥
कोमल चित दीनन पर दाया * मन वच क्रम मम भक्त अमाया ॥
सबहिं मानप्रद आप अमानी * भरत प्राण सम मम ते प्राणी ॥
विगत काम मम नाम परायन * संत विरक्त नोति भुवतापन ॥
सीतलतारु सरलता मैत्री * द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री ॥
यह सब लक्षण बसहिं जासु उर * जानिय तात संत संतत फुर ॥
समदमनियमनीति नहिं डोलहिं * परुषवचन कबहुं नहिं धोलहिं ॥

यह संत चरित्र किसी जाति वा मत विशेष का नहीं है न इसके लिये किसी इलहामी पुस्तक की आवश्यकता है न यह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी मत की सम्पत्ति है ये सर्व हितकारी सच्चरित्रता के नियम त्रिकाल में मनुष्य-मात्र के लिये सेवनीय हैं, इन उत्तम नियमों की कोई अवहेलना नहीं कर सकता, इस सन्तलक्षण और मनुजी महाराज के बतलाये धर्म के लक्षणों में जो साम्य है वह इस बात को सिद्ध करता है कि सन्त लक्षण ही मानव धर्म है यथा:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात्—“धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह, चोरी का त्याग, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धिमत्ता, ज्ञान सम्पादन, सत्य, क्रोध का त्याग” ये धर्म के दश लक्षण हैं । महाराज मनु के मानवधर्म में वैयक्तिकत्व की विशेषता होने के कारण, तुलसीदासजी के मैत्री रिपुराहित्य, तथा दया आदि लक्षण इतने स्पष्टतया नहीं रखे गये तथा तुलसीदासजी सत्य और शौच से मृदुभाषिता और शील को विशेषता देते हुए सम्भवतः इसी लिये दिखाई पड़ते हैं क्योंकि उनका सामाजिक धर्म पर विशेष ध्यान है, अन्यथा दोनों लक्षण प्रायः एक हैं । .

यद्यपि यह विषय कर्त्तव्यशास्त्र का है और इसकी शास्त्रीय मीमांसा उस विषय की पुस्तकों में ही प्राप्त होगी पर कुमारों को उनका कर्त्तव्यपथ दर्शाना इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है अतएव यह बतला देना आवश्यक है कि उनका आवश्यकीय कर्त्तव्य क्या है ? कर्त्तव्य का प्रथम विभाग वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यों में किया जा सकता है, वैयक्तिक कर्त्तव्य पालन से अपना हित होता है और आत्मिक बल बढ़ता है और सामाजिक कर्त्तव्य पालन से समाज का हित होता है । इन दोनों की कसौटी यह है कि जिसको आत्मा स्वीकार करे और जिससे उसका हित हो वह उत्तम कार्य तथा कर्त्तव्य है और

इसके विपरीत अकर्त्तव्य है। तथा जिसे समाज श्लाघ्य समझे और उसका परिणाम हितकारक हो वह सामाजिक कर्त्तव्य है। आत्मानुमोदित तथा समाजश्लाघ्य कर्त्तव्यों पर ही चरित्र भित्ति स्थापन करना कुमारों का कर्त्तव्य है और ऐसे ही उत्तम कार्यों का स्वभाव सम्पादन करना चरित्र संगठन है। दो समाज सुधारकों को कर्त्तव्यसूचियां ऊपर दी जा चुकी हैं उन सूचियों में वर्णित गुणों का यथाविधि धारण करना कुमारों के चरित्र का संगठन है।

सुन्दर चरित्र और स्वभाव सद्यः फलदाता है, श्रीगुरु के शील स्वभाव ने वानरों को भी उनका मित्र बनाया, बुद्ध के अहिंसात्मक चरित्र ने ही उन्हें बिना अस्त्र, शस्त्र धारण किये विजयश्री की प्राप्ति कराई, बड़े-२ राजाओं को नतमस्तक बनाया। संसार में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जहां दुश्चरित्र का परिणाम हितकारक और शान्तिदायक हुआ हो। "Example teaches better than precepts," अर्थात्—“उदाहरण का प्रभाव शिक्षा से अधिक पड़ता है” यह बात इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अङ्कित है।

सच्चरित्र को आत्मा चाहता है परमात्मा और संसार चाहता है, पर चरित्र एक दिन में नहीं बनता। “भवन बना-वत दिन लगे ढाहत लगे न बार” के अनुकूल गिरना यका-यक हो सकता है पर सर्वोत्तम उन्नति यकायक असम्भव है। मक्खन वा घृत प्राप्त करने के लिये समय और अच्छे प्रबन्ध

की आवश्यकता होती है पर उसको बिगाड़ने के लिये कांजी की एक बूंद अलम् है। सुन्दर चरित्र न एक दिनमें बनसकता है न अनायास प्राप्त हो सकता है। कार्यों से संस्कार बनते हैं और संस्कारों से चरित्र, उत्तम कार्यों का फल उत्तम संस्कार होता है और उत्तम संस्कारों से शोभन चरित्र तैयार होता है। सन्तत शोभन कर्म करने से सुन्दर स्वभाव पड़ जायगा और सुन्दर स्वभाव होने से चरित्र भी सुधर जायगा। इसी प्रकार बुरे स्वभावों का निराकरण करना भी चरित्रसंगठन के लिये आवश्यक है क्योंकि बुरे स्वभाव सच्चरित्रदुग्ध के लिये कांजी का कार्य करते हैं और समय २ पर अपना बुरा प्रभाव दिखा कर मनुष्य के सच्चरित्रता का प्रमाण पत्र पाने में बाधक होते हैं।

मनुष्य का चरित्रसुधार कठिन है पर असम्भव नहीं है उसका चरित्र कितना ही अधम होगया हो उसका पुनरुत्थान सम्भव है। पापों का प्रायश्चित्त किया जाता है बुरी से बुरी आदत यदि प्रयत्न किया जाय तो छूट सकती है। मनुष्य को इस विषय में कभी निराश न होना चाहिये। कितना ही चलवान् जन्तु क्यों न हो यदि उसे भोजन न मिले तो वह अवश्य मर जायगा। यदि किसी बुरी आदत को उसकी खुशक न मिले तो अवश्य मर जायगी और उसके स्थान पर उसको भूखों मारनेवाली दूढ़ता आजायगी इसी प्रकार उत्तम स्वभाव उत्पन्न करने तथा उसे दूढ़ करने के लिये उसको सुयोग प्राप्त होने देना सीधा तथा पक्का मार्ग है।

स्वभाव डालने का कोई वैज्ञानिक साधन नहीं है पर मनो-विज्ञानियों ने कुछ उपाय निर्दिष्ट किये हैं उनका अवलम्बन करने से अवश्य लाभ होगा। इस स्वभावसम्पादन में मुख्य साधन मनः संकल्प है। जिस समय बुरे विचार आवें उसी समय दृढ़ संकल्प करे कि मैं इस दुष्ट स्वभाव के पास न जाऊंगा, इसकी अवसर प्राप्ति का कोई कार्य न करूंगा और इस संकल्प से कभी मुंह न मोड़ूंगा, या अमुक उत्तम स्वभाव अवश्य प्राप्त करूंगा, इस स्वभाव का सहायक प्रत्येक कार्य करूंगा। कठिनाई से सब घबराते हैं इसी प्रकार हमारा मन जो सबसे अधिक चञ्चल है बन्धन में पड़ने से अधिक घबराता है वह संकल्प की रज्जु से बाँधना नहीं चाहता और संकल्प-शैथिल्य का साथी होता है। अतः मनके इस स्वभाव को सदा कोड़ा लगाने का ध्यान रखना चाहिये। यह कोड़ा समाज का या ऐसे मित्रों का जो इस कार्य में सहमत हों अच्छा है, बस अपने इस संकल्प को उनके सन्मुख रखो तो वे हमेशा इसको हरा रखने में सहायक होंगे। दूसरा पग इस क्रम में यह है कि इस संकल्प के अनुसार कार्य करने में कभी न चूको, क्योंकि प्रत्येक चूक से संकल्प शिथिल होगा।

पर यह भी ध्यान रहे कि प्रत्येक अवसर पर उसके अनुसार कार्य करने से स्वभाव निर्माण होगा और दृढ़तर होता जायगा यदि एक दो बार चूक होजाय तो हताश न होकर अधिक दृढ़ता से कार्य करो, संकल्प को फिर दुहराओ, चूक

पर पश्चात्ताप करो और मन को यह दिखादो कि उसने शिथिलता दिखा कर बन्धन को आगे के लिये अधिक कड़ा कर लिया । जिससे संकल्प के अनुसार कार्य करने में त्रुटि न हो और सुविधा हो । अपना वातावरण संकल्पानुसार कर देने से अधिक आशाजनक लाभ होता है । यथा यदि प्रातःकाल उठने का स्वभाव डालना है तो ऐसे स्थान पर सोओ जहां मनुष्य के प्रातःकाल उठते ही घड़ी घंटे बजने लगते हों अथवा घड़ी में अलार्म लगाकर सोओ । देखा गया है कि सोते समय अपने मन से दृढ़प्रतिज्ञ होकर तीन बार उठने का समय बताकर कह देने से उसी समय आंख खुल जाती है यह संकल्प ही की शक्ति है । अपने को ऐसे स्थान पर या ऐसी संगति में रखो जहां संकल्प के अनुसार कार्य करने की सुविधा हो, यथा ब्रह्मचारी तथा साधुओं में रहने से काम-चिकार दूर होकर वीर्य रक्षा में सहायता मिलती है ।

चरित्रसंगठन में पवित्रता और लज्जा अति उत्तम सहायक भाव हैं जो मनुष्य निर्लज्ज होजाते हैं उनका सुधार होना अति कठिन होता है । लज्जा मनुष्य को बुरी संगति से बचाती है । अपनी मान मर्यादा का नाश मृत्यु से भी अधिक दुःख पहुंचाता है जिसको ऐसी दुःखदायी वस्तु भी पीड़ा न दे उसको जीवित न समझना चाहिये अतः न स्वयं निर्लज्ज होओ न अन्यो को अपने सामने निर्लज्ज होने दो, लज्जा मन की लगाम है यदि मन बेलगाम होगया तो उसका साधना कठिन

होजायगा, बड़ों के मान की रक्षा और छोटों से उचित मान पाने का ध्यान भी सच्चरित्र की सामिग्रियों में से है।

चरित्रसाधन में सत्सङ्गति का प्रभाव किसी से छिपा नहीं है। कुसंग के अतिरिक्त निर्जनता तथा अकेला रहना भी कुमारों के लिये हानिकारक है, ऐसे अवसर पर मनको बेलगाम दौड़ने का अवसर मिलता है और बुरे विचार उत्पन्न होते हैं तथा ऐसे घृणित विचार जिनको समाजिक संरक्षकता में केवल भाँकने का अवसर मिलता था निर्भय होकर अपना नश्व तांडव दिखाते और अपने प्रलोभन में आत्मा को फँसा लेते हैं। जिन कुमारों को एकान्तवास का अधिक अवसर हो उन्हें उचित है कि सद्ग्रन्थों के अध्ययनद्वारा सत्सङ्गति का लाभ उठावें। किन्हीं अंशों में उत्तम ग्रन्थों की संगति जीवित मनुष्यों के संग से भी अच्छी है; बुरे विचारों का प्रक्षालन करने तथा सद्बिचारों को जीवित रखने में सत्सङ्गति अमृत-वारि है। महापुरुषों के जीवन चरित्रसंगठन में विशेष उपयोगी हैं। ग्रन्थों के विषयमें फ्रांसिसवेमेन्ट साहब कहते हैं:—

“Give me leave,

To enjoy myself that place doth contain
My books, the best companion is to me
A glorious course where hourly I converse
With the old sages and philosophers,
And sometimes for variety I confer

With kings and emperors and weigh
their counsels

Calling their Victories unjustly got
Unto a strict account and in my fancy
Deface their ill placed statues. Can I then
Part with such silent pleasures to embrace
Uncertain vanities ?”

अर्थात्—“मुझे उस स्थान में जहां मेरी पुस्तकें हैं आनन्द करने की अनुमति दीजिये । एक प्रशस्त पाठप्रणाली मेरे लिये श्रेष्ठ सहवर्गी है जहां मैं घंटों प्राचीन ऋषियों और तत्त्व-ज्ञानियों से वार्तालाप करता हूं । और कभी २ रुचिपरिवर्तन के लिये राजाओं, महाराजों से परामर्श करता हूं । और उनकी सलाह को तौलता हूं । उनकी अन्यायद्वारा प्राप्त की हुई विजयों की कड़ी आलोचना करता हूं और उनकी अनुचित रूप से स्थापित मूर्तियों को कल्पना द्वारा मेंट देता हूं । क्या मैं ऐसे शान्त सुख को असार आडम्बरों के लिये त्याग सकता हूं ?”

जिस प्रकार अकेला रहना चरित्रसंगठन में हानिकारक है उसी प्रकार बेकारी भी चरित्र का घोर शत्रु है । कहा गया है कि बेकार मनुष्य के सिर सहस्र शैतान रहते हैं । ऊपर लिखा जा चुका है कि मनुष्य सर्वथा बेकार नहीं रह सकता, बेकारी का परिणाम बदकारी होता है, मन कभी खाली नहीं

रहता है यदि किसी उद्दिष्ट कार्य पर नहीं लगा है और सन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं है तो उसका कुमार्ग में भटक जाना नितान्त स्वाभाविक है, बेकार मन अपने लिये कोई न कोई कार्य ढूँढ़ निकालता है जो उसके लिये अनिष्टकारक होता है। इस बेकारी की उत्तम औपधि सद्ग्रन्थावलोकन है अतएव विद्या का व्यसन डालना चाहिये जिससे आत्मोज्जति होकर मनुष्य चरित्रवान बनकर उच्च आदर्श को प्राप्त करता है।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमतां ।

व्यसनेन च सूखाणां निद्रया कलहेन वा ॥

अर्थात्—“बुद्धिमानों का समय काव्य और शास्त्र के आनन्द में और सूखों का दुर्व्यसन, नींद तथा लड़ाई झगड़ों में व्यतीत होता है”

इससे स्पष्ट है कि बेकारी और कुसङ्गति बुरी ही नहीं है किन्तु चरित्रहीनता की जननी है।

चरित्रसंगठन की तीसरी सामिग्री उच्च आदर्श है जो मनुष्य ऊँचा नहीं देखता वह ऊपर को चढ़ ही नहीं सकता है, जो पवित्र होना ही नहीं चाहता वह मैलेपन से क्यों भय खाने लगा। जिस मनुष्यका आदर्श ऊँचा नहीं वह ऊँचा नहीं होसकता और यह सम्भव नहीं कि मनुष्य उच्च आदर्श को रखते हुए ऊँचे उठने का ध्यान न करे। उच्च आदर्श और अच्छे उदाहरण चरित्रसंगठन के कार्यात्मक साधन हैं यदि किसी को उच्चादर्श प्राप्ति की सच्ची लगन हो तो उसके लिये

महान् पुरुषों के उदाहरणों का अनुकरण आवश्यक होजायगा जो उनको सच्चरित्रता की ओर ले जायगा ।

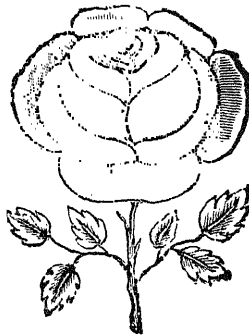
अन्तिम और सर्वोपयोगी साधन चरित्रसुधारका आस्तिकता है ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वदृष्टा है उसकी शक्ति के अनुभव और ज्ञान का यह फल आवश्यक है कि मनुष्य दुष्ट कार्यों से बचा रहे ईश्वर शुभाशुभ कर्मों का फलदाता है ऐसे सर्वशक्तिमान ईश्वर की उपस्थिति में मनुष्य दुश्चरित्र हो ही नहीं सकता । इस विषय के अनेक उदाहरण हैं कि आस्तिकता ने मनुष्य को किस प्रकार दुष्टता से हटाकर शिष्टता की ओर प्रवृत्त किया है । अपनी पवित्रता का विचार मनुष्य को बहुत से दूषित कार्यों तथा स्थानों से दूर रखता है । जो मनुष्य समझता है कि ईश्वर सर्वव्यापी होने से उसके मन में भी व्यापक है और प्रत्येक कार्य का दृष्टा तथा साक्षी रूप है वह अपने को अनुचित विचारों से हटावेगा और अनुचित स्थानों में जाने से बचेगा । आस्तिकता के इन पवित्र भावों ने ही मनुष्य को महात्मा और पवित्रात्मा बनाया है । जिन कुमारों को इस विषय में विशेष जानकारी की इच्छा हो वह स्वामी रामतीर्थ के जीवनचरित्र को पढ़ें और स्वामी शङ्कराचार्य की दिग्विजय के दर्शन करें । मनुष्य समाज ने आस्तिकता को इतना प्रामाणिक माना कि ईश्वर भक्तों का नाम ही साधु पड़ गया, साहित्य में साधु शब्द जिसका अर्थ सच्चरित्र है वह आस्तिकों में रूढ़ होगया वास्तव में इन दोनों शब्दों में

अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है जो सच्चरित्र नहीं वह कभी सच्चा आस्तिक नहीं होसकता और जो सच्चा आस्तिक है वह दुश्चरित्र नहीं होसकता ।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि यूरोप के कतिपय पक्के नास्तिक क्यों अच्छे चरित्रवाले हुए हैं, इसका उत्तर यह है कि इस विषय में आस्तिकता के यह अर्थ नहीं हैं, कि कोई पुरुष तभी आस्तिक होगा जब वह संसार रचने-वाली शक्ति को ईश्वर कहकर ही माने । चाहे वह यह कहे कि कर्म संसार रचता है और कर्म ही शुभाशुभ फल देता है, चाहे वह यह कहे कि प्रकृति में स्वयं ऐसी शक्ति है जो संसार की रचना कर रही है पर सब ही एक विराट् शक्ति के पूजक हैं उसका नाम कर्म कहो या प्रकृति की शक्ति कहो, वास्तव में ये ईश्वर के गुण हैं जहां उनका आरोप होना है वहीं फल दिखाई पड़ता है । यहां पर किसी एक नियन्त्रशक्ति को मानना ही आस्तिक होने के लिये पर्याप्त है, उस शक्ति के स्वरूप के विषयमें तो आस्तिकों में भी मतभेद है । मिल इत्यादि चरित्र संगठन के लिये सामाजिक नियन्त्रण को ही पर्याप्त समझते हैं पर सामाजिक नियन्त्रण तो निर्जनता में हट जाता है । ईश्वरीय आस्तिकता का नियन्त्रण सदा सम रहता है इस लिये सामाजिक नियन्त्रण से श्रेय है ।

अतः आस्तिकता, उच्च आदर्श, आशावाद और पवित्रता के भावों का धारण करना कुमारों के चरित्र सुधार की

उत्तम सामित्री है। हमें पूर्ण आशा है कि ऐसे भावों को रखते हुए और कुसंगति, बेकारी आदि से बचते हुए कुमार अपने चरित्र का उत्तम संगठन कर सकेंगे। ये गुण सदाचार की आधारशिला और जीवनसाफल्य के साधन हैं इनका संक्षिप्त वर्णन इन प्रकरणों में प्रथक् २ किया जाता है।



जीवनसाफल्य के साधन ।

यः साधूंश्च खलान् करोति विदुषो,
सूखान् हितान्द्वेषिणः ।

प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं,
हालाहलं तत्क्षणात् ।

तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं,
भोक्तुं फलं वाञ्छितं ।

हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुले,
ष्वास्यां वृथामाकृथाः ।

अर्थात्—हे साधुजन ! जो दुष्टों को साधु, सूखों को विद्वान और शत्रुओं को हितचिन्तक, परोक्ष को प्रत्यक्ष तथा हालाहल (भयंकर विष) को अमृत बना देती है उस ऐश्वर्यशालिनी अच्छी क्रिया (शुभ कर्म) की मनवाञ्छित फलकी प्राप्ति के लिये पूजा कीजिये बहुत से गुणों के पीछे मत पड़िये ।

आवाल वृद्ध सब अपने जीवन को सफल हुआ देखना चाहते हैं । सब की यही इच्छा रहती है कि हम को किसी प्रकार का दुःख या चिन्ता न हो, संसार में यश की प्राप्ति हो । मनुष्यमात्र चाहते हैं कि संसार उनकी पूजा करे । भेद केवल इतना है कि कोई ऐहिकसुख से अपने जीवन की सफलता

को नापता है, कोई पारलौकिकसुख तथा मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य जीवन का उद्देश्य समझता है, किसी को अपने पास-पड़ोस की पूजा तथा समीपवर्ती कीर्तिसौरभ से ही तृप्ति होजाती है, तो कोई दिग्दिगन्तव्यापिनी कीर्ति की अभिलाषा रखता है। सुख क्या है ? दुःख किसे कहते हैं ? ऐहिक आनन्द को सुख समझा जाय या पारलौकिकसुख ही सुख कहने योग्य है, क्षणिक या तात्कालिकसुखसम्पन्न को सुखी कहें, या किसी को सुखी कहने के लिये उसके मरण पर्यन्त प्रतीक्षा करें आदि विषय इस पुस्तक के विषय बनाये जाने योग्य नहीं। हमारे लिये तो स्वस्थ शरीर, बलवान् आत्मा, निश्चिन्तता, सामाजिक प्रतिष्ठा, न्यून तथा अप्रतिहत सदिच्छा ही जीवनसाफल्य के प्रमाण हैं। अब यह देखना है कि इस जीवनसाफल्य के साधन कौन २ से हैं उन साधनों के प्राप्त करने का उचित समय क्या है ?

कुमारजीवन मनुष्यजीवन का मूल है। वृक्ष को सफल बनाने के लिये उसके मूल में जल सिंचन करना पड़ता है, क्योंकि मूल को सुदृढ़ बनाने से सारा वृक्ष दृढ़ और हरा-भरा रहता है। भवननिर्माण में नींव की कच्चाई निर्माणकर्त्ता के परिश्रम को कभी सफल नहीं बना सकती। ऊपरी टीम टाम को सफलता नहीं कह सकते। जीवन की सफलता का बीजारोपण कुमारजीवन में ही किया जासकता है।

जीवनसाफल्य कोई अलभ्य वस्तु नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार जीवका सफल होना स्वाभाविक है। किसी वृक्ष में फल लगे इसमें आश्चर्य ही क्या है। फलों का न लगना ही आश्चर्य का हेतु होता है। प्रकृति में यह भी नहीं देखने में आता है कि आम में आक और आक में आम के फल लग जायँ। फिर प्रकृति ने मनुष्य को ही असफल रहने के लिये छोड़ दिया हो यह क्योंकर सम्भव है। मनुष्य को अपने जीवन में साफल्यप्राप्ति एक नैसर्गिक वस्तु है उसके साधन प्रकृति ने दे रखे हैं। संसार में देखने से पता चलता है कि प्रत्येक वस्तु एक कार्य विशेष के लिये बनाई गई है। मनुष्य इस संसारव्यापी नियम का अपवाद नहीं है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी कार्यार्थ उत्पन्न हुआ है वही उसके जीवन का नैसर्गिक उद्देश्य है और उस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करना उसके लिये स्वाभाविक होना चाहिये जिसके लिये प्रबल प्रयत्न मात्र की आवश्यकता है।

जैसा कि उपरोक्त विवेचन से सिद्ध है मनुष्य को अपने जीवन की सफलता के लिये किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं है। उसके जीवन को सफल बनाने की सामग्री उसके भीतर ही विद्यमान है। धन, यश आदि सफलता के प्रमाण हैं न कि साधन, इस बात की इतिहास भी पुष्ट करता है। उन्नत तथा सफल जीवन मनुष्य अधिकांश में साधारण स्थिति के पुरुषों में हुए हैं और जिन महापुरुषों के पास

धनादि वैभव थे भी तो वे वस्तुएं इनकी सफलता की बाधक सिद्ध हुई हैं। श्रीरामचन्द्रजी की सफलता का कारण अयोध्या का राज्य नहीं हुआ, भगवान् कृष्णचन्द्र की महा-पुरुषता को सिद्ध करने वाला नन्दमहर का वैभव अथवा वसुदेव का राज्य नहीं था। महापुरुषों की जीवनियां सिद्ध कर देंगी कि संसार में आशातीत सफलता प्राप्त करने के लिये किन्हीं असाधारण अथवा बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। कुमारों को यह जान कर संतोष होगा कि उनको सफल-जीवन बनाने के लिये उनके पास पर्याप्त साधन उपस्थित हैं। कहावत है:—

“Where there is a will there is a way”

अर्थात्—“जहां संकल्प है वहीं मार्ग है” कुमारों को यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये कि अपने जीवन के भाग्य-विधाता वे स्वयं ही हैं। अपने जीवन को सफल वा असफल बनाना उन्हीं के हाथ में है जहां संकल्प होता है वहीं साधन उपस्थित होजाते हैं क्योंकि साधनों के विधाता भी तो वही हैं। प्रकृति उनकी स्वामिनी नहीं वरन् यदि वे चाहें तो वह उनकी वशवर्तिनी दासी होजाती है।

“Nature's laws are not commands they are statements of individual sequences. We are not helpless in the hands of nature. We are helpless so long as we are ignorant and when we

understand them, they become our slaves. By knowledge we can master, change or turn them to our own purpose."

अर्थात्—“प्रकृति के नियम आज्ञाएँ नहीं हैं वे अनिवार्य परिणामों के वृत्तमात्र हैं। हम प्रकृति के हाथ में असहाय नहीं हैं। हम असहाय या वैवश उसी समय तक हैं जब तक अज्ञान हैं और जब हम उन्हें समझ लेते हैं वे हमारे दास होजाते हैं। ज्ञान प्राप्त कर हम उन्हें अधिकृत कर सकते, उन्हें उलट पुलट सकते तथा अपने उपयोग में लासकते हैं।”

प्रकृति का नियम है कि एक भारी वस्तु पृथिवी को दबा कर पड़ी रहे पर गुरुत्वाकर्षण आदि प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त कर हम उसी भारी वस्तु को चलायमान करने में समर्थ होते हैं। आकाश में मेघों की टक्कर खाने से उत्पन्न हुई विद्युत् वृक्षों और प्रासादों को धराशायी करदे यह प्राकृतिक नियमानुसार होता है पर उसी विद्युत्—शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर न केवल हम अपने भवनों को उन मेघों से उत्पन्न हुई विद्युत् को पृथिवी में एक विशिष्ट मार्ग द्वारा फेंककर रक्षा हो कर सकते हैं वरन् उसी प्रकार की शक्ति को घर्षणादि क्रियाओं से स्वयं उत्पन्न कर उससे सामान्य दासों की भांति पंखा भलवा, चक्री पिसवा और धान कुटवा सकते हैं।

भाग्य क्या है—संचित कर्म और कर्म, प्रकृति का अचल नियम है, प्राकृतिकनियमों के फल को कार्य कहते हैं अथवा

इसको विशेष स्पष्ट करें तो उसे प्रकृति के नियमों का वाह्य रूप कह सकते हैं। पृथिवी में आकर्षण शक्ति है उसके द्वारा वस्तुओं का खिंच जाना प्रकृति का नियम है, पर हम उस नियम को कार्यरूप में ही देखते हैं अर्थात् पृथिवी ने अमुक वस्तु को अपनी ओर खींचा, अमुक के ऊपर उठने में बाधक हुई आदि। जड़ प्रकृति और मनुष्य में यह अन्तर है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है उसकी स्वतन्त्र बुद्धि को कोई परतन्त्र नहीं कर सकता। पृथिवी में आकर्षणशक्ति है और उसका कार्य पदार्थों को अपनी ओर खींचना है, परन्तु मनुष्य को अधिकार है कि निज सामर्थ्यानुसार उसमें हेरफेर करदे, उस शक्ति को अपने उपयोग में लावे यथा नीचे आने के स्थान पर मनुष्य हवाई जहाज़ द्वारा आकाश पर उड़ जाय, इसी शक्ति द्वारा हम भाग्य को अपने अधीन कर सकते हैं।

पूर्वजन्मसंचित कर्म ही तो प्रारब्ध या भाग्य हैं। पूर्व जन्म का संस्कार या कुछ दिन पहिले का संस्कार बात एक ही है, एक बार के किये कार्य और अनेक बार के किये हुए कार्य में अन्तर केवल इतना है कि अनेक बार किया हुआ कार्य करने में अधिक सरल और छोड़ने में अधिक कठिन है। यदि एक मनुष्य आज नरहिंसा करता है और दूसरे ने चार वर्ष पूर्व की, तो आज कीगई नरहिंसा और चार वर्ष पूर्व कीगई नरहिंसा के परिणाम में कोई अन्तर नहीं इसी प्रकार

पूर्वजन्मकृत नरहिंसा का भी वही परिणाम होना चाहिये जो आज कीगई नरहिंसा का । अन्तर केवल नाम का है । पूर्व जन्म कृतहिंसा के अवश्यम्भावी परिणाम को प्रारब्ध या भाग्य और आज कीगई हिंसा के परिणाम को कर्मफल कहते हैं ।

बस यदि हम इस जीवन के कर्मफल को प्रायश्चित्त वा अन्य उचित प्रतीकार द्वारा उलट पुलट सकते हैं तो पूर्वजन्म-कृत कर्म अर्थात् भाग्य को उलट पुलट सकने की शक्ति भी हम में अवश्य है । एक उदाहरण द्वारा यह बात भली भांति समझ में आजावेगी, एक मनुष्य को व्यभिचार के फल स्वरूप मूत्रकृच्छ्र, उपदंश तथा रुधिरविकार आदि रोग उत्पन्न हुए पर उसने सचेत होने पर व्यभिचार को त्यागकर आयुर्वेद की विधि से उत्तम औषधि और सुपथ्यसेवन आरम्भ कर दिया और उसको इस पुरुषार्थ का फलस्वरूप स्वस्थ शरीर प्राप्त होगया । दूसरे पुरुष ने अपने पूर्वजन्म के दुराचारों के कारण उपदंश वा कुष्ठरोगग्रसित माता पिता के घर में जन्म पाकर उत्तराधिकार में उपदंश वा कुष्ठरोग पाया अब यदि वह पुरुष भी उत्तम उपचार करे तो रोगमुक्त होसकता है । पहले ने अपने इस जन्म के पापों का प्रायश्चित्त किया दूसरे ने अपने भाग्य को पलट दिया । यदि दूसरा प्रारब्ध को रोता और पहला भी अपने पूर्वकृतकर्मवश व्यभिचार में प्रवृत्ति मानता तो दोनों अकर्मण्य होकर अपना अहित कर सकते थे ।

यह कदापि नहीं होसकता कि अशुभकर्मों का फल हो और शुभकर्मों का फल न मिले जिस प्रकार नीबू चबाने से जीभ कड़वी और पश्चात् कुल्ली कर शकर खाने से मीठी हो सकती है इसी प्रकार शुभ और अशुभकर्मों का फल होता है। शुभकर्मों के फल का नाश अशुभकर्म करते हैं और अशुभकर्मों के फल को शुभकर्मों द्वारा उलटा जासकता है। अच्छी प्रारब्ध का फल यदि अशुभकर्म द्वारा नष्ट किया जासकता है तो बुरी प्रारब्ध का अच्छा बनाना भी मनुष्य के अधीन है। यही ईश्वरीय न्याय है यही प्रकृति का अटल नियम है दैव का सहारा आलसी और कायर पुरुष हो लिया करते हैं कहा है:—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवेन देयमिति . कापुरुषाः वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते न यदि सिद्ध्यति कोत्र दोषः ॥

अर्थात् “उद्योगी पुरुषसिंह को ऐश्वर्य प्राप्त होता है, भाग्य से मिलता है यह कायर पुरुष कहते हैं, भाग्य को अपने अधीन कर सामर्थ्यानुसार पुरुषार्थ करना चाहिये, यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्धि न हो तो इसमें क्या दोष, अथवा यह देखना चाहिये कि हमारे यत्न में कौनसा दोष शेष रह गया है।”

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सुयोगके उपयोग और उद्योग द्वारा न प्राप्त की जासके प्रसिद्ध विजेता नैपोलियन

खोनापार्ट का कथन था "The word impossibility is found in the dictionary of fools" अर्थात् "असम्भव का शब्द मूर्खों के कोष में पाया जाता है" इस बात को सिद्ध करने वाले अनेक उदाहरण हिन्दू शास्त्रोंमें विद्यमान हैं कि जिन वस्तुओं को साधारण मनुष्य असम्भव कहते हैं उन्हींको हमारे पूर्वजोंने प्राप्तकर दिखाया है। मृत्यु पर जय प्राप्त करने, समुद्र तरने आदिके अनेक उदाहरण रामायण और महाभारत में विद्यमान हैं। वास्तव में प्रत्येक वस्तु ज्ञान से सम्भव और अज्ञान से असम्भव होजाती है।

जिन बातों को लोग समझते हैं कि दैवयोग से मालूम हुई हैं वे अधिकतर सुयोगों से बुद्धिपूर्वक लाभ उठाने से प्रकट हुई हैं। कहा जाता है कि जब न्यूटन ने वृक्ष से सेव को गिरते देखा तब उसे गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगा और यह घटना आकस्मिक या दैवलीला थी पर वास्तव में यह बात ठीक नहीं, न्यूटन ने उससे पहले दीर्घकाल तक आकर्षण शक्ति के विषय में मनन और परिश्रम किया था। किसी अचानक घटना वा दैवयोग के भरोसे जीवन में कोई महत्व पूर्ण कार्य नहीं हो सकता। कभी २ रास्ता चलते हुए रुपयों की थैली ज़मीन में पड़ी मिल जाती है वा और कोई अभीष्ट लाभ होजाता है परन्तु इस प्रकार के लाभ के भरोसे निरुद्यम बैठे रहना मूर्खता है। अपने चित्त को एकाग्र कर काम में लगा देना और निरन्तर परिश्रम करते रहना कार्य करने वालों के

मार्ग हैं और निश्चय पूर्वक परिश्रम करते रहना और विचार-पूर्वक उद्योग में लगे रहना सफलताप्राप्ति के मुख्य साधन हैं।

जीवन को सफल बनाने का सबसे प्रथम उपादेय साधन समय का उचित उपयोग है। यदि थोड़ा ध्यान पूर्वक देखा जाय तो समय ही जीवन है। बूंद से २ घड़ा और घड़ा २ से तालाब भर जाता है इसी प्रकार विपलों से पल, पलों से घड़ी, घड़ियों से प्रहर, प्रहरों से दिन, दिनों से मास और मासों से वर्ष बन जाते हैं और इन्हीं वर्षों का जीवन बना हुआ है। जो पुरुष कौड़ियों को फेंकता है वह कभी रुपये नहीं जमा कर सकता, जो समय के टुकड़े पल और विपलों को व्यर्थ गंवाता है वह वास्तव में जीवन को टुकड़े २ करके फेंक रहा है। यदि कोई मनुष्य यह प्रण करले कि उसका एक पल भी व्यर्थ न जायगा प्रत्येक पल विपल का उत्तम उपयोग करेगा तो कुछ काल में उसका जीवन अवश्य सार्थक हो जायगा।

वास्तव में कार्य के योग्य समय तो मनुष्यजीवन में थोड़ा ही रह जाता है। उस थोड़े को भी व्यर्थ खोकर सफलता की आशा करना भारी भ्रम है। वेदों में मनुष्य की सामान्य आयु १०० वर्ष की लिखी है, परन्तु भारतवासियों की वर्तमान आयु का औसत् २३ वर्ष रह गया है। वेदोक्त आयु को प्राप्त करने वाले पुरुष प्रतशित एक भी नहीं दिखाई पड़ते। यह ठीक है कि इस आयु के औसत २३ वर्ष में कुछ ही मास जीवित रहने वाले बालकों के जीवन का हिसाब भी सम्मिलित है परन्तु

हम इस २३ वर्षीय आयु के औसत को तिगुना किये देते हैं और यह माने लेते हैं कि साधारण जीवन का माप ७० वर्ष है। अब इस जीवन के ८ या १० साल तक तो बालक को संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता और न वह अपने जीवन का महत्व समझता है तथा अन्त के ५ या ६ साल में अधिकांश मनुष्य पलंग पर पड़े रहने के अतिरिक्त कार्य करने के अयोग्य होजाते हैं इस प्रकार ७० साल की आयु में १२ वर्ष तो यों गये शेष ५८ वर्षों में आधा समय रात्रियों में गथा शेष आधे का छठवां भाग स्नान, भोजनादिक आवश्यक दैनिक कृत्यों के लिये निकाल देने तथा २ वा ३ साल रोगादि के कारण अकर्मण्य रहने के लिये रख देने पर कार्य करने योग्य समय मनुष्य जीवन में २० वा २१ साल रह जाता है अब इस २० वा २१ वर्ष (अल्प समय) को यदि हम प्रति दिन दो घंटे दिन में सोने और १ वा २ घंटा सैर शिकार आदि में खो दें तो अपना सुधार, स्वार्थ, समाजसेवा, देशसेवा आदि आवश्यक-कीय कार्यों के लिये समय कहाँ रह जाता है और जीवन-साफल्य की क्या आशा रह सकती है। इस वैयक्तिक स्वार्थ-संघर्ष, सामाजिक प्रतिद्वन्द्वता तथा देशों की दौड़ में अपनी लीक छोड़ जाने के लिये आवश्यकता है कि जीवन का एक विपल भी व्यर्थ न खोया जाय कहा है "Artis long and life is short" "सीखना और करना अधिक और जीवन थोड़ा है।"

कुमारों के प्रत्येक कार्य के लिये एक समय और प्रत्येक समय के लिये एक कार्य होना चाहिये । वर्त्तमान में भारत-वासियों का घंटों समय केवल प्रतीक्षा में व्यतीत होता है जिसका नाम ही हिन्दुस्तानी टाइम होगया है । जिस नष्ट समय का हिसाब लगाने से सहज ही में वर्षे बन जाती हैं । प्रायः प्रत्येक सभा सोसाइटी की बैठक में एक घंटे हाशिया (margin) छोड़ना पड़ता है और जहां अंग्रेज़ी काम पड़ता है वहां बहुतेरे हिन्दुस्तानी तैयारी ही करते रह जाते हैं उधर मोटिंग समाप्त होजाती है, हिन्दुस्तानी सभाओं में इस प्रतीक्षा (कालातिपात) का यह फल होता है कि रात्रि के २ बजे तक बैठकें होती हैं । भारतवासियों के लिये यह दशा बड़ी शोचनीय और उनकी जीवनसफलता में बाधक है । अपने समय का पूर्ण लाभ उठाना उचित है और इसी लिए एक ही समय में कई कार्य करना उचित नहीं क्योंकि इससे कोई कार्य उत्तमरूप से नहीं होता न समय की बचत होती है बल्कि उन कार्यों में दोष आजाने से समय का उचित लाभ नहीं होता । अंग्रेज़ी में प्रसिद्ध कहावत है:—

“Work while you work play while you play,
To be good and happy that is the way.”

“अर्थात् काम करने के समय में काम करो और खेलने के समय में खेलो सभ्य और सुखी होने का यही मार्ग है”

प्रवीण पुरुषों का कथन है कि समय धन है पर वास्तव में वह धन से भी बढ़ कर है, समय के उचित प्रयोग से

अपना सुधार और अपने चरित्र की उन्नति होती है यदि आलस्य और व्यर्थ की बातों से नित्य एक घंटा बचा कर अपनी उन्नति में लगाया जाय तो कुछ दिनों में मूर्ख आदमी विद्वान और निर्धन, धनवान होसकता है और यदि वही समय परोपकारादि शुभकर्मों में लगाया जाय तो मनुष्य का जीवन सार्थक होजाय । जो मनुष्य समय का ध्यान नहीं रखता उसे प्रत्येक कार्य में जल्दी करनी पड़ती है, वह घबराया हुआ रहता है और उसका सारा जीवन घबराहट और जल्दीकरने में ही व्यतीत होता है । समय जीवन का सार है उसको व्यर्थ खोना एक महान पाप का भागी बनना है । जौन टाड साहब अपनी पुस्तक स्टूडेंस् मैनुअल के पृष्ठ १११ पर लिखते हैं ।

“The sin which of all others most constantly lies at their doors, is the waste of time while young indeed of all the journey of life”

अर्थात् “पाप जो औरों की अपेक्षा सर्वदा उनके द्वार पर उपस्थित रहता है वाल्यावस्था में और वास्तव में सम्पूर्ण जीवन में समय का व्यर्थ गंवाना है” कौमारावस्था का समय थोड़ा है । मनोविज्ञानियों का मत है कि २१ वर्ष के बाद मन में प्रौढ़ता आजाती है उसके बाद कोई नई विद्या वा नया कार्य पूर्णतया नहीं प्राप्त कर सकते । जीवन एक बालू की घड़ी या जल की बहती धारा है जो पल बालू के कण वा जलके बिन्दुओं की भांति निकल जाते हैं वे फिर नहीं लौटते ।

सुयोग बार २ नहीं प्राप्त होता बहुत से जीवन सुयोग को खो देने से असफल रह जाते हैं। अनेकों राज्य सुयोग का उचित रीति से लाभ न उठाने के कारण नष्ट होगये। शतशः युद्ध सुयोग के कारण जीते और कुयोग से हारे गये। इस जीवन में एकबार स्वर्ग का द्वार सबके लिये खुलता है पर बहुधा मनुष्य अपनी मूर्खतावश इस द्वार में प्रवेश न कर नर्क में पड़े रह जाते हैं। सुयोग को खोकर पछताने से कुछ लाभ नहीं होता। सुयोग जीवन साफल्य का खुला हुआ द्वार है जो कुछ समय पश्चात् बन्द होने वाला है खुले हुए द्वार में प्रवेश न कर बन्द होते हुए में घुसने से मस्तक में चोट लगने का भय होता है। सुयोग को आगे से पकड़ना चाहिये एक श्रेष्ठ प्रबन्धकार का कथन है:—

“Opportunity has hair in front behind it is bald, if you sieze her by the forelocks you hold her, but if suffered to escape not Jupiter himiself can catch her again (From Latin)”

अर्थात् “सुयोग के सिर में केवल आगे की ओर बाल रहते हैं वह पीछे गंजा होता है यदि तुम उसको आगे के बालों से पकड़ लो तो वह तुम्हारे हाथ आजायगा यदि तुम उसे आगे से निकल जाने दोगे तो फिर जुपिटर (रोमन जाति में ईश्वर का नाम) भी उसे नहीं पकड़ सकता ।”

कहावत प्रसिद्ध है कि कल कभी नहीं आता आज का काम कल पर छोड़ने की आदत कुमारजीवन के लिये पैनी

आरी है। दीर्घसूत्रता को विषयत् त्यागने का प्रयत्न करना चाहिये इसके लिये कबीरदासजी का यह दोहा सदैव स्मरण रखने योग्य है:—

काल करै सो आजकर, आज करै सो अब्ब ।

पल में परलै होयगी, बहुरि करोगे कबब ॥

कहावत है कि पल २ घिसते २ प्रलय काल आजाता है कौन जानता है कि जो मौका इस घड़ी है दूसरी घड़ी में न रहे और मन की मन ही में रह जावे। जितना समय सोचने विचारने में लग जाता है प्रायः उसका अर्द्ध समय ही उस कार्य की सिद्धि के किये पर्याप्त होता है। दीर्घसूत्रता का त्याग करने से मनुष्य में एक ऐसा गुण आजाने की सम्भावना है जो महापुरुषों की खासी पहचान और सफलता का रहस्य है। दीर्घसूत्रता के नाश होते ही मनुष्य को तत्काल निश्चय की आदत पड़ जायगी। तात्कालिक तथा स्पष्ट निश्चय (clear grit) सफलता का आधा रहस्य है। जब तक लक्ष्य स्थिर न हो जाय निशाना ठोक नहीं लग सकता जब तक इष्ट का पता न हो तब तक अभीष्टसिद्धि का स्वप्न में भी दर्शन दुर्लभ है। संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं फिर मनुष्य समाज जो कि कुमारों का कार्यक्षेत्र बननेवाला है किस प्रकार स्थिर रह सकता है वह तो चेतनता की मूर्ति है उसके रूप क्षण २ में बदलते हैं। उस क्षेत्र में दीर्घसूत्रता का ठिकाना कहाँ? वहाँ तो लक्ष्य को स्थिर करने का अवसर भी चलाय-

मान है। ऊँघने और सूँघने वाले कभी सफलमनोरथ नहीं हो-
सकते बहुधा लोग सोचते विचारते ही रह जाते हैं कि लक्ष्य
दृष्टि से ओझल होजाता है, सुयोग हाथ से निकल जाता है।

फिर संसार के कार्यक्षेत्र में एकही ध्रानुष्क तो है नहीं, कि
आनन्द से बैठ कर शर सन्धाने और लक्ष्य वेधन करे। यहां
सैकड़ों लक्ष्य हैं तो हजारों निशानेबाज़ अपना २ निशाना
लगाये बैठे हैं जिसने जितना शीघ्र लक्ष्य स्थिर करके निशाना
लगा दिया वही सफल मनोरथ होगया और जो लक्ष्य स्थिर
करने में ही सोचता विचारता रहा जब तक उसकी एक पर
बुद्धि आई तब तक उसे दूसरे ने फटकार दिया और जब तक
दूसरे की मनसा की तब तक वह खिसक गया सोचते २ दीर्घ-
काल में जब तक लक्ष्यवेध के लिये तैयार हुए तब तक
समय ही दूसरा आगया सफलता की इतिश्री होगई।

कहावत है कि *Well begun is half done* अर्थात्
भली भांति आरम्भ किया हुआ कार्य आधा समाप्त होजाता
है। इसका प्रयोजन यह है कि निश्चयात्मक बुद्धि से कार्य के
स्वरूप का निर्णय किया जाना कार्य के एक अङ्ग की पूर्ति हो-
जाना है। आभ्यन्तर में निश्चितकार्यस्वरूप का साधारणतः
कहा जाने वाला कार्य साक्ष्यरूपमात्र है।

कार्य का निश्चय होते ही उसमें पूरी संकल्प शक्ति के
साथ लग जाने वाले अवश्य सिद्धि को प्राप्त होते हैं। पूर्ण
संकल्पशक्ति के सम्मुख कोई प्रतिरोध नहीं ठहर सकती

वैदिक मतानुसार प्रत्येक शुभ कार्य के लिये संकल्प करना पड़ता है। संकल्प से सारी शारीरिक शक्तियां आत्मिक बल के साथ मिल कर एकलक्ष्य होजाती हैं और इसी एकाग्रता के कारण कार्य होने में कोई विलम्ब नहीं होता। सैलफ़ हैलप पृ० २२६ पर वर्णित है:—

"It is will force of the purpose that enables a man to do or be whatever he sets his 'mind to or being or doing. A holy man was accustomed to say, "Whatever you will, that you are." for such is the force of our will joined to the Divine that whatever we wish to be seriously and with true intention that we become.

अर्थात्—“यह संकल्प ही की शक्ति है जो मनुष्य को उसकी इच्छानुसार करने या बनने योग्य बनाती है, एक पवित्रात्मा पुरुष कहा करता था कि जो कुछ तुम चाहते हो वह तुम हो क्योंकि हमारी इच्छा की शक्ति ईश्वरीय शक्ति से मिल कर ऐसी होजाती है कि जोकुछ हम सच्चे हृदय से गम्भीरता के साथ होना चाहते हैं होजाते हैं।”

उद्योगी और उत्साही मनुष्य की संकल्पशक्तिमात्र से संसार कांपने लगता है और उसकी सफलता के अनेक सहायक उत्पन्न होजाते हैं स्वयंसेवकों को उसके पास आने की

उतावली पड़ जाती है। महाराज रघु को कौत्स मुनि के लिये धन लाने का संकल्प करते ही उनके कोष में सुवर्णवृष्टि होजाती है, विश्वामित्र के हाथ में जल लेते ही संसार में हाहाकार मच जाता है सफलता का प्रारम्भ इसी बात से होता है कि हम सफल होने का संकल्प करें शुभ कार्यों के करने की प्रतिज्ञा करें।

असमर्थ हैं किस भांति हम निज धर्म का पालन करें।

निज दीन दुर्बल बान्धवों के दुःख हम कैसे हरेँ ॥

ऐसे वचन मुख से कभी भी हम निकालेंगे नहीं।

कर हैं हमारे क्यों भला कर्त्तव्य पालेंगे नहीं ॥

(मै० श०)

सच्ची आशा संकल्पशक्ति पर ही निर्भर है और जीवन को सर्वोत्तम बनाने वाली आशा ही है। उत्साह पूर्वक किये बिना कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं होसकता। तीव्र आशा और दृढ़ संकल्प स्वयं ऐसी वस्तुएं हैं कि वे असम्भव को सम्भव और परोक्ष को प्रत्यक्ष कर दिखाती हैं। कुमारों को स्मरण रखना चाहिये कि महान होने के लिये उत्साही और उद्यमी बनना होता है। उत्साह के साथ संकल्प को सिद्ध करने के लिये परिश्रम करने से ही सफलता प्राप्त होती है “नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखेमृगाः” अर्थात् “सोते हुए सिंह के मुख में हरिण नहीं घुस जाते।” यदि आप चाहते हैं कि संसार आपका लोहा मानजाय तो संसार को लोहे का

नमूना बनकर दिखाइये । जीतेका सब साथ देते हैं “Nothing succeeds like success” अर्थात् “जयके समान कोई सफल नहीं होता” विजयी मनुष्य के सम्मुख जाते हुए शत्रु के रोंगटे खड़े होजाते हैं । प्रसिद्ध है जब कोई बालि के सम्मुख युद्ध के लिये आता था तो वह उसका आधा बल हर लेता था । जिस कार्य को हाथ में लिया जाय उसको अन्त तक किये बिना न ठहरना चाहिये, क्योंकि एक विजय के बाद दूसरी सरलतर और तीसरी विजय सरलतम होजाती है इसी प्रकार एक हार के बाद दूसरी विजय कठिनतर और दूसरी हार के बाद विजय कठिनतम होजाती है । कायर पुरुष प्रत्येक कार्य को असम्भव कहते हैं । कवि रो का वचन है:—

“The wise and active conquer difficulties
By daring to attempt them. Sloth and folly
Shiver and shrink at sight of toil and danger
And make the impossibility they fear”

अर्थात्—“बुद्धिमान और प्रयत्नशील मनुष्य कठिनाइयों को उनमें साहस से हाथ डालकर जीत लेते हैं अज्ञानी और मूर्ख परिश्रम और आपत्ति को देख कर कांपते और मुंह छिपाते हैं और उस असम्भवपन को स्वयं बना लेते हैं जिससे वे डरते हैं ।”

उत्साह मनुष्य को बड़ी २ कठिनाइयों से निकाल कर उन्नति के मार्ग पर चलाता है किसी काम की सफलता के

लिये सुयोग की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी उत्साह और संकल्पशक्ति की है यह शक्ति मनुष्य के आत्मिकबल का केन्द्र है अथवा यों कहिये कि सफलता का केन्द्र और मनुष्य का सर्वस्व है।

हम अपने जिन श्रीरामचन्द्रादि पूर्वज महात्माओं के चरित्र को सगर्व स्मरण करते हैं उन्होंने अनेक संकटों का सामना कर अपने उत्साह और वीरता से जो कुछ किया वह छिपा नहीं है। आर्य जाति का प्राचीन इतिहास उत्साह और वीरता के उदाहरणों से भरा हुआ है। अंग्रेज़ जापानी आदि जातियों में उत्साह की मात्रा अधिक है और यही गुण उनकी उन्नति का हेतु है और हमारी वर्त्तमान हीनता का कारण हममें उत्साह और साहस की कमी है। अतएव जीवनसाफल्य के इस साधन को बढ़ाते रहना कुमारों का मुख्य कर्त्तव्य है।

अदम्य साहस और अथक परिश्रम के सम्मुख सफलता हाथ जोड़े खड़ी रहती है जो पुरुष अपनी स्मृति संसार में छोड़ जाना चाहते हैं और किसी खोज का साहस करते हैं उनको अनुकूल सुयोग मिल ही जाते हैं और यदि सुयोग पहले से मौजूद न हों तो वे उन्हें बना लेते हैं क्योंकि आवश्यकता आविष्कारों की जननी है।

जिन खोजा तिन पाईया, गहरे पानी पैठ ।

हों बौरी दृढ़न गई, रही किनारे बैठ ॥

करत २ अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।

रसरी आवत जातते, सिल पर परत निसान ॥

कठिन कला हू आय है, करत २ अभ्यास ।

नट ज्यों चालत बरत पर, साधे बरस छमास ॥

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध होकर खड़ा होजाना चाहिये और कठिनाइयों और संझूटों का सामना करने के लिये छाती खोल देना चाहिये । प्रसिद्ध चित्रकार राजा रवि वर्मा ने किसी पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई थी सर्वोत्तम और उपयोगी पाठशाला कठिनाइयों की पाठशाला है । कठिनाइयों के अवसरों में भांति २ के आविष्कार हुए और होते हैं । सच पूछो तो विना शाणोल्लेख के मनुष्य-रूपी हीरे में कान्ति नहीं आती, महर्षि मनुजी का आदेश है ।

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।

आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनाम्मन्येत दुर्लभाम् ॥

अर्थात्—“मनुष्य पहिले धनादि के नाशसे घबराकर अपने को तुच्छ न समझे किन्तु जीवन के अन्त समय तक अभ्युदय की इच्छा करे और इसे कठिन प्राप्त न जाने” समुन्नति धीरे २ होती है एक अंग्रेजी कहावत है ““Blow and steady wins the race” अर्थात् “धीर पर धुनि में पकड़े दौड़ में जीतते हैं” बड़े २ फल तुरन्त नहीं प्राप्त होजाते हैं काटने से पहिले बोना पड़ता है और इस बीच में आशा बांध कर मुद्दतों प्रतीक्षा करनी पड़ती है । परिश्रम से प्रत्येक कार्य सुगम होजाता है । धैर्य और प्रसन्नता पूर्वक कार्य करते हुए संतोषपूर्वक प्रतीक्षा की जासकती है ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि सफलता और सिद्धि का मूल्य धैर्य और परिश्रम है जिस कार्य में अथवा जिस वस्तु के उपलब्ध करने में जितना ही अधिक धैर्य और परिश्रम अपेक्षित है वह उतना ही अधिक मूल्यवान और उपादेय है, चन्दन में घिसने से ही सुगन्धि आती है। यश वास्तव में परिश्रम और धैर्य की सुगन्धि है। महाराणा प्रताप की धीरता को पढ़ कर किस देशाभिमानी के रोंगटे खड़े नहीं होजाते और पण्डित बोपदेव की कहानी सुन कर किस बालक का हृदय उत्साह से नहीं भर जाता ? इन महापुरुषों की अटल कीर्तिका कारण उनकी धीरता और अटूट परिश्रम था। जिस मनुष्य को विघ्न और बाधाएं नहीं रोक सकतीं उसके सामने से सफलता नहीं निकल सकती।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना,

प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

अर्थात्—“नीच पुरुष तो विघ्न के भय से किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते और जो आरम्भ करके विघ्न पड़ने पर बीच में छोड़ बैठते हैं वे मध्यम श्रेणी के पुरुष हैं, उत्तम पुरुष तो विघ्नों से बार २ ताड़ित किये जाने पर भी आरम्भ किये कार्य को नहीं छोड़ते (सफलमनोरथ हुए बिना नहीं रहते)” एक अंग्रेज़ विद्वानका कथन है ‘Success is the last step

of failures” “अर्थात्—सफलता तो असफलताओं की अन्तिम सीढ़ी है” जो गिरेगा नहीं वह चढ़ना कैसे सीख सकता है, हम सैकड़ों बार गिर कर चलना सीखते हैं, परमात्मा ने मनुष्य को बड़ी २ शक्तियाँ दी हैं एक ही मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार की काया पलट सकता है। अपनी असफलताओं के हम ही कारण होते हैं। हमारी दीनता और असफलता का कारण हमारा निरुद्यम है।

संसार में ऐसी न कोई वस्तु दुर्लभ है सही।

उद्योग करके भी जिसे हम प्राप्त कर सकते नहीं ॥

अपना अनुद्यम ही हमारी हीनता का हेतु है।

दुर्भाग्य का दौर्बल्य का दुख दीनता का केतु है ॥

पुरुषार्थ ही पुरुष का अर्थ है जिस मनुष्य में पुरुषार्थ अथवा उद्योगशीलता की न्यूनता है उसको पुरुष कहना ही उचित नहीं है। “Stand firm and recant not that is manliness”

अर्थात्—“अटल खड़े रहो और धैर्य को न छोड़ो यही पुरुषत्व है”।

जीवनसफलता के लिये इस बात की भी आवश्यकता है कि मनुष्य एक वस्तु को दृढ़ता से पकड़े और जब तक उसमें पूर्णता न प्राप्त करले “यक गीर मुहकम गीर” के अनुसार अधूरा ज्ञान किसी कार्यका अच्छा नहीं, जिस मनुष्य का किसी पर पूर्ण अधिकार न हो वह तो गुलाम का गुलाम ही रहा “Jack of all but master of none.” “अर्थात्—सबके

गुलाम मालिक किसी के भी नहीं” प्रोफ़ेसर राममूर्ति, प्रोफ़ेसर विष्णुदिगम्बर, प्रोफ़ेसर जगदीशचन्द्र बोस तथा जमशेदजी ताता आदि के उदाहरण कुमारों के लिये इस बात की सिद्धार्थ पर्याप्त हैं कि एक ही वस्तु में पूर्णता प्राप्त करने पर धन और यश की प्राप्ति हो सकती है। सर जान लबक का वचन है:—

“Every one must know something of every thing and every thing of something.”

अर्थात्—“प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक विषय में कुछ जानना चाहिये और कुछ में सब कुछ जानना चाहिये”।

दूसरे का सहारा तकने की आदत सफलता के लिये बहुत हानिकारक है। मनुष्य को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने-वाला गुण स्वावलम्बन है। अकेले हम क्या कर सकते हैं मानवजीवन के इस अधःपतनकारक विचार को कभी अपने हृदय में स्थान नहीं देना चाहिये।

एकहि भानु प्रकाशित है जग दूर करै तमराशि सदाहीं।

जीव सबै भयभीत रहैं मृगराज बसै इक कानन माहीं।

त्योहि शमानंद एकहि सूर दलै अरि के गण शंकत नाहीं।

एकहि धर्म प्रचार करै जग धार्मिक जो न बसै छलछाहीं॥

जिन जानियों में स्वावलम्बन का भाव रहा है वे सदैव उन्नति को प्राप्त हुई हैं वर्त्तमान अमेरिकन जाति इस बात का अच्छा उदाहरण है। भारतवासियों में जब स्वावलम्बन का

भाव था उस समय देश उन्नति के शिखर पर चढ़ा हुआ था । संसार के इतिहास में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपने निरन्तर उद्योग और परिश्रम से बड़ी २ सिद्धियों को प्राप्त हुए हैं । ऐसे पुरुष धनाढ्यों के महलों से लेकर निर्धनों की झोपड़ियों तक में उत्पन्न हुए हैं । विदेशी पुरुषों में कविवर शेक्सपियर, वर्न्स, जानसन आदि ने अति साधारण स्थिति से उन्नति की है । एतद्देशीय सज्जनों में पं० मदनमोहन मालवीय, महात्मातैलङ्गस्वामी, श्रीयुत् गोपालकृष्ण गोखले, पूज्य दादाभाई नौरोज़ी आदि के पिता साधारण स्थिति के थे । इन महानुभावों की उन्नति और ख्याति इनके ही कठिन परिश्रम और स्वावलम्बन का एकमात्र फल है ।

अपने सहायक आप हो होगा सहायक प्रभु तभी ।

बस चाहने ही से किसी को सुख नहीं मिलता कभी ॥
आने न दो अपने निकट औदास्यमय उत्ताप को ।

आत्मावलम्बी हो न समझो तुच्छ अपने आपको ॥

स्वावलम्बन ही जीवनसफलता की कुंजी है पुरुषार्थी मनुष्य के लिये कोई कार्य कठिन नहीं है । दूसरे का आसरा तकने वाले अपने कार्य को कभी पूरा नहीं कर सकते । अपने कार्य में सदैव दूसरे की सहायता चाहना अपनी हीनता का प्रकाश करना है । मनुष्य की आत्मा में अनेकानेक शक्तियाँ हैं उनका विकास उनसे बिना कार्य लिये नहीं होसकता यदि किसी में कुछ न्यूनता है तो उसका दोष उसी पर है उसने

उस शक्ति को जिसका अभाव उसको अब प्रतीत होता है, काम न लेकर औरों का भरोसा कर २ मार डाला है। जिस प्रकार बिना पाणोल्लेख के हीरे में कान्ति नहीं आती उसी प्रकार मनुष्य की अनुपम शक्तियाँ स्वावलम्बन के बिना विकाश को प्राप्त नहीं होतीं। प्रत्येक के आगे दांत दिखाना बड़ी भूल है आज तक किसी को दूसरे ने उन्नति के शिखर पर नहीं रक्खा जिन्होंने उन्नति की है स्वयं ही की है।

स्वावलम्बी मनुष्य से कठिनता कोसों दूर भागती है। चढ़ने वाले का उन्नतशिखर पादचुम्बन करते हैं ऐसी कोई उन्नति नहीं जो उसके सामने नत न हो आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, कभी न कभी यदि वह चाहे तो समस्त संसार उसका अनुगामी हुए बिना न रहेगा। प्रत्येक कठिनता उसको कठिन और प्रत्येक विघ्न उसको दृढ़ बनाता जाना है। यहां तक कि एक दिवस ऐसा आता है कि जब कोई कठिनता उसका सामना नहीं कर सकती और कोई विघ्न उसको मुंह नहीं दिखा सकता। स्वामी रामतीर्थ का वचन है कि जिस पुरुष को संसार के नखरे टखरे और क्रोध-कटाक्ष नहीं हिला सकते वह संसार को ज़रूर हिला देगा।

सम्पत्सु चहतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।

आपत्सु सहाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥

अर्थात्—“महापुरुषों का चित्त वैभव में कमल के समान कोमल होता है, पर आपत्ति में चट्टानों से टकर लेनेवाले महापर्वत के समान कठोर होजाता है।

मानवीय उन्नति के लिये धन और सुगमता की कोई आवश्यकता नहीं है यदि ऐसा होता तो संसार उन मनुष्यों का जिन्होंने अति निम्न श्रेणी से उन्नति कर अपने को उच्चशिखर पर पहुँचाया है ऋणी न होता । लोग समझते हैं कि निर्धनता एक शाप है परन्तु संसार का इतिहास इसके विपरीत उसको आशीर्वाद सिद्ध करता है । पता लगता है कि यशस्वी और उन्नतशील पुरुष अधिकतर निर्धन परिवारों में ही हुए हैं । एक अंग्रेज विद्वान का कथन है:—

“Let not poverty stand as an obstacle in your way. Poverty is uncomfortable as I can testify, but nine times out of ten the best that can happen to a man is to be tossed over board and compelled to sink or swim himself. In all my acquaintances I have never known one to be drowned who was worth saving.”

अर्थात्—“निर्धनता को अपने मार्ग में प्रतिबन्धक न समझो इस बात का मैं स्वयं साक्षी हूँ कि निर्धनता दुःखदायिनी होती है परन्तु दश में नव बार देखा गया है कि मनुष्य के लिये सबसे उत्तम बात जहाज़ पर से फेंक दिया जाना और स्वयं डूबने वा तैरकर पार करने पर बाध्य किया जाना है । मैंने अपनी जान पहिचान में किसी बचनेयोग्य मनुष्य को डूबते हुए नहीं देखा” । धनाभाव से मनुष्य की आंखें खुल जाती हैं

तथा उसे ज्ञान होजाता है कि संसार में उसका क्या कर्त्तव्य है ।

स्वावलम्बन और धैर्य की जीवन के प्रत्येक समय में आवश्यकता है पर इसका स्वभाव कौमारावस्था ही से डालना चाहिये अच्छे संस्कार के लिये निरन्तर ध्यान और समय सदैव अपेक्षित है । स्वाश्रय और आत्मसंयम से मनुष्य को अपनी कमाई खाने और सचाई से अर्जन करने तथा अर्जित वस्तु की वृद्धि करने की शिक्षा मिलती है । जापानी और अमेरिकन विद्यार्थियों के विषय में प्रसिद्ध है कि वे अपने माँ-बाप का आसरा नहीं तकते, अपनी पढ़ाई का व्यय स्वयमेव अर्जन कर लेते हैं । चार पांच घंटे स्टेशन पर कुलीगीरी करके दो चार डालर कमा लेते हैं और अपना कार्य चलाते हैं । इन्हीं कुलीगीरीकरनेवालों में जापान के मंत्री और अमेरिका के प्रधान तक होते हैं ।

पर इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि हम दूसरे की सहायता का निरादर करें । स्वाभिमानी और स्वावलम्बी कुमारों को इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि यदि उनके मातापिता समर्थ हों और उनकी सहायता में प्रसन्नता मानते हों तो अनावश्यक स्वावलम्बन में समय और शक्ति को व्यर्थ नष्ट करना अच्छा नहीं है । स्वावलम्बन कृतघ्नता का साथी नहीं है और न कृतघ्नी मनुष्य कभी जीवन में कृतकृत्य होसकता है । स्वावलम्बन का अर्थ यही है कि दूसरे का सहारा

न तकना चाहिये । कृतज्ञता एक वशीकरण मंत्र है और समाज में सफलता प्राप्त करने का अच्छा साधन है । उदण्डता और अनाचार तो सामाजिक सफलता के शत्रु हैं । थोड़ी २ बातों पर खुनस जाने वाले का कोई मित्र नहीं होनै पाता और इसी लिये उसके सफल होने में सदा संदेह रहता है । सदैव निश्चय रखो कि:—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं,

क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसत्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च,

लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥

अर्थात्—“उत्साहयुक्त, आलस्यरहित, क्रिया की विधि जाननेवाले, व्यसनों में न फँसे हुए, शूर, कृतज्ञ और पक्की मित्रता करनेवाले के पास लक्ष्मी अपने आप रहने को जाती है” ।



सदाचार और व्यावहारिक सभ्यता ।

आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥

पशु जगत और मनुष्य समाज में एक बड़ा भारी अन्तर्-स्वातन्त्र्य का है, पशुओं का आचरण प्रकृति ने निश्चित कर दिया है और जो कुछ उनके अधीन भी है उस पर उनके स्वामियों की सत्ता है। मनुष्य को ईश्वर ने जहां कार्य करने की स्वतन्त्रता दी है वहां उसको उसके सम्यक् व्यवहार के लिये बुद्धि भी दी है। पशुओं में न बुद्धि है न कार्यस्वातन्त्र्य और इसी लिये वे अपने आचरण के लिये उत्तरदायी भी नहीं हैं। मनुष्य में यदि पशु से विशेषता है तो इस सदाचार की है, जो मनुष्य बुद्धि पूर्वक आचार व्यवहार नहीं करता वह स्वरूप में मनुष्य और व्यवहार में पशु है।

सदाचार के विषय में संसार में मतभेद है। भिन्न २ देशों को समय २ पर आचारनीति बदलती रही है और बदलती रहेगी। कुछ आचरणों को एक देशवाले आपत्तिजनक समझते हैं तो दूसरे देश और जातिवालों को उसमें कोई

आपत्ति नहीं प्रतीत होती । यथा बालक बालिकाओं का एक साथ खेलना भारतवर्ष में सदाचार की दृष्टि से आपत्तिजनक और योरुप और अमेरिका की जातियों की दृष्टि में सम्भवता का व्यवहार है ।

सदाचार के बाह्य स्वरूप में चाहे कुछ अन्तर हो पर उस के सिद्धान्तों में प्रायः समस्त देश और जातियाँ एक मत हैं । सत्य, शौच, संयम, शील, नम्रता आदि सदाचार के शुभ अङ्गों को सभी श्लाघ्य समझते हैं । मतभेद का कारण प्रायः बुद्धि से काम न लेना होता है । एक रीति एक देश के जलवायु के कारण वहाँ की सामाजिक स्थिति को स्वास्थ्यकर हो सकती है, पर इससे यह समझ लेना कि चूँकि यह रीति हमारे लिये हितकर और हमारी रीति नीति के अनुसार कर्त्तव्य है तो अन्य सभी समाजों की सदाचार नीति में भी उसका वैसा ही आदर हो, नितान्त भ्रमात्मक है । पर अधिकतर लोग इसको वैसा नहीं देखते और इसी लिये मतभेद मान बैठते हैं, इन मतभेद के कारणों में सामाजिक तथा मानसिक विकास की न्यूनताधिकता भी होती है पर सदाचार के सनातन सिद्धान्त सभी देश और काल में एकसे हैं ।

मनुष्य का सम्बन्ध तीन वस्तुओं से अनिवार्य है ईश्वर, जीव और जगत, इन तीन वस्तुओं से उसका सम्बन्ध स्वयं सिद्ध है उसके समस्त कार्य इन्हीं तीनों में से एक न एक के सम्बन्ध में होते हैं ईश्वर सम्बन्धी सदाचार को धर्म, जीव

या आत्मा सम्बन्धी सदाचार को चरित्र और जगत या समाज सम्बन्धी सदाचार को सभ्यता कहते हैं। धर्म से पारलौकिक सुख, चरित्र से स्वास्थ्य और शान्ति तथा सभ्यता से यश और सुचारु व्यवहार का लाभ होता है। इनमें से किसी एक को उचित से अधिक उपयोगिता देने से लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है और उसका परिणाम सुखकारक नहीं होता। नीति को छोड़ धार्मिक सदाचार ही को विशेषता देकर भारतवर्ष ने अपनी थोड़ी हानि नहीं की। सदाचार की इस एकाङ्गीन वृद्धि का परिणाम ही तो छुआछूत, विद्या और कलाकौशल से ग्लानि और राजनैतिक अधोगति हुई है। दूसरी ओर फ्रांस आदि योरोपीय देशों में धर्म को ढकोसला समझ कर सभ्यता का आडम्बर मात्र दृष्टिगोचर होता और चरित्रभ्रष्टता का नग्न नृत्य दिखाई देता है, अपनी समस्त शक्ति को स्वास्थ्य पर ही लगा देने का भीषण परिणाम ग्रीक इतिहास में मिलता है।

हमारे पूर्व ऋषिगण इस सनातन सिद्धान्त से अनभिज्ञ न थे उन्होंने सदाचार के ५ यम और ५ नियम निर्धारित किये हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

अर्थात्—स्नानादि से पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति ये पांच नियम हैं, इनसे भी अधिक उपयोगी पांच यम हैं क्योंकि यह नियम आत्महितकारी हैं और यम आत्म-

हितकारी होने के अतिरिक्त सर्वहितकारी भी हैं अतएव मनुजी महाराज कहते हैं ।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान्बुधः ।

यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

अर्थात्—बुद्धिमान को यमों को सदा वर्तना चाहिये केवल नियमों को नहीं, यमों को न सेवन करने और केवल नियमों का पालन करने से मनुष्य गिर जाता है ।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।

अर्थात्—हिंसा को छोड़ना (सब से बैररहित होना) सत्य, चोरीत्याग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (अत्यन्त लोलुपता वा विषयवासना का त्याग) ये पांच यम हैं ।

इन सूत्रों में पिरोये गये पांच यम और नियमों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट झलकता है यथा अहिंसा के बिना शौच नहीं हो सकता, सत्य के बिना संतोष नहीं, अस्तेय के बिना तप नहीं, ब्रह्मचर्य से ही स्वाध्याय ठीक २ होता और विषय-वासना को त्याग कर ही ईश्वरभक्ति हो सकती है ।

नियम ।

१ शौच—यद्यपि बाह्यपवित्रता भी सदाचारका एक अङ्ग है और शारीरिकस्वास्थ्य के लिये अपने शरीर को स्नानादिसे स्वच्छ रखना परमावश्यक है तथा मलिन शरीर में रोगों का वास होना स्वाभाविक है और अपवित्र शरीर गन्देपन और

असम्भ्यता की खासी पहचान है किन्तु जिस शौच का वर्णन इस सूत्र में किया गया है वह एक व्यापिनी पवित्रता है उसके अन्तर्गत मानसिक पवित्रता का भी समावेश है। पवित्रता का एक अङ्ग तरतीब भी है बिना तरतीब के पवित्रता का असली मतलब चला जाता है और बिना तरतीब (क्रमबद्धता) के पवित्रता स्थिर नहीं रह सकती। अपवित्रता और अक्रमबद्धता आलस्य के प्रमाण हैं। सब से प्रथम आगन्तुक की दृष्टि हमारे कमरे की स्वच्छता, वस्तुओं की क्रमबद्धता पर पड़ती है, स्वच्छता और क्रमबद्धता सदाचार के प्रारम्भिक प्रमाणपत्र हैं इनका प्रभाव जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता, इस प्रकार की पवित्रता मनुष्य के चरित्र में एक अनोखी आभा भर देती है।

थोड़ी वस्तुएं सफ़ाई और सुथराई से रक्खी हुई कितनी भली मालूम पड़ती हैं। जापानी लोगों का यह स्वभाव प्रसिद्ध है कि वे बहुत थोड़ी वस्तुएं रखते हैं पर जो रखते हैं उनको पवित्रता और उत्तम क्रम से। पवित्रता और क्रमबद्धता स्वयं ऐसी वस्तुएं हैं जिनकी कमी को अन्य वस्तुओं का ढेर पूरा नहीं कर सकता, जो मनुष्य अपनी वस्तुओं तथा अपने शरीर को भी स्वच्छ नहीं रख सकते क्या वे दूसरे की वस्तुओं के रखने के अधिकारी समझे जा सकते हैं? असावधान और फूहड़ मनुष्य के हाथ में अपनी वस्तु देना कोई पसन्द नहीं कर सकता।

परन्तु इस वाह्यपवित्रता से मन और बुद्धि की पवित्रता अधिक उपयोगी है । यदि किसी का मन और बुद्धि पवित्र नहीं है तो उसकी वाह्यपवित्रता उसके अधःपतन को रोकने में समर्थ न होगी और थोड़े ही समय में उसकी वाह्यस्वच्छता भी नष्ट हो जावेगी । मनुजी का वचन है:—

अद्विर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यांभूतात्मा बुद्धिज्ञानेन शुद्ध्यति ॥

अर्थात्—“जल से शरीर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और संयम से आत्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है ” ।

धनकी पवित्रता सब से बड़ी पवित्रता है अर्थात् जो धन हम पैदा करें सच्चाई और ईमानदारी से, अन्याय और अनुचित रीति से दूसरे के धनहरण करने की इच्छा ही लोभ और मानसिक अपवित्रता है । मनुजी महाराज का आदेश है:—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योर्येशुचिः सशुचिः न सृष्टारिशुचिः शुचिः ॥

अर्थात्—“मिट्टी और पानी के द्वारा की हुई पवित्रता वास्तविक पवित्रता नहीं है धन की पवित्रता सब पवित्रताओं से बढ़ कर है” ।

मनुष्य को कभी निकम्मा और आलसी होकर नहीं बैठना चाहिये क्योंकि ऐसे ही समय मनमें बुरे विचार उत्पन्न होते हैं

उन बुरे विचारों के साफ़ करने का उत्तम उपाय यह है कि उनकी धूल बाहर फटकार कर उड़ादे अर्थात् उनको निस्संकोच सत्य २ प्रकाश करदे फिर सत्सङ्गरूपी सोते के पास जा सदुपदेश वारि से थोडाले और ऐसा प्रयत्न करे कि फिर कभी मैल न जमने पावे और बेकारी को जिससे मन में मलिनता आती है, अपने पास न आने दे ।

जिस प्रकार वाह्यपवित्रता में क्रमबद्धता की आवश्यकता है इसी भांति मानसिक स्वच्छता के लिये भी क्रम आवश्यक है आदमी का दिल कितना ही साफ़ क्यों न हो असमय और अनियम काम करने से उसके ऊपर सन्देह होना ज़रूरी है । कोई कितना ही ईमानदार क्यों न हो जबतक उसका हिसाब क्रमबद्ध न हो उसकी पवित्रता का कुछ मूल्य नहीं अतएव देश, काल का ध्यान रख कर कार्य करना तथा क्रिया की विधि को जानना सदाचार का वैसा ही उपयोगी अङ्ग है जैसा पवित्र भाव ।

२ संतोष—सदाचार का दूसरा अङ्ग सन्तोष है परन्तु सन्तोष और आलस्य तथा निकम्मापन में बड़ा भेद है आलस्य-चश हाथ पर हाथ रख कर प्रारब्ध के नाम पर दुःख सहने का नाम सन्तोष नहीं ऐसा सन्तोष तो हीनता है सच्चा संतोष तो हीनता न होकर बल है । संतोष का वास्तविक अर्थ यह है कि पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए हानिलाभ से विचलित न हो, विघ्नों और कठिनाइयों को प्रसन्नता पूर्वक हँसते हुए उनका सामना करे । जान रस्किन लिखते हैं ।

“Patience is the finest and worthiest part of fortitude and the rarest too... .. Patience lies at the root of all pleasures as well as of all powers. Hope herself ceases to be happiness when impatience accompanies her.”

अर्थात्—“धैर्य का सबसे अच्छा और बहुमूल्य भाग संतोष है और सबसे अधिक दुष्प्राप्य भी यही है। संतोष सब सुखों और शक्तियों का मूल है। आशा स्वयं सुखमय नहीं रहती जब असंतोष उसके साथ रहता है”।

लोभ को पापों का मूल कहा है। तृष्णा की अग्नि अन्त तक नहीं बुझती। एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे की इच्छा बनी रहती है। इस अग्नि को बुझाने के लिये संतोष-चारि की आवश्यकता है। तृष्णा की वृद्धि से मनुष्य में अधीरता और असहनशीलता आजाती है और स्वार्थ तो सुरसारूप धारण कर सब कुछ भक्षण करना चाहता है। इस अधीरता और स्वार्थ का परिणाम बुद्धिनाश और सदाचार की हानि होती है। संतोष के न रहने से मनुष्य के मन को नैराश्य घेर लेता है और नैराश्य में सब संसार काले रंग का दृष्टि-गोचर होता है। सदा खिन्न मन रहने वाला मनुष्य कभी शान्ति लाभ नहीं पाता और जिसके पास जाता है उसकी अशान्ति का कारण होजाता है।

कुमारों के लिये संतोष की परमावश्यकता है। यथा लाभ संतोष से कुमारों के चित्त को शान्ति रहेगी और वे निश्चिन्त हो विद्या लाभ कर सकेंगे, एक सत्पुरुष का वचन है “कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः” अर्थात्—“कौपीनधारी निश्चय भाग्यवान् है”। एक कौपीन मात्र धारण कर विद्यादि गुणोंकी भली भाँति शिक्षा प्राप्त की जासकती है जिससे कौपीनधारी राज्याधिकारी हो सकते हैं। पथ्याप्त से अधिक धन में विलासिता आजाना सम्भव है और विलासिता का रोग लग जाने पर विद्यादि गुणों की प्राप्ति कहां ? कहा है:—

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनस्सुखम् ।
सुखार्थीवा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थीवा त्यजेत्सुखम् ॥

अर्थात्—“जो लोग विषय सुखार्थी हैं उनको विद्या कहां और जो विद्यार्थी हैं उनको विषय सुख से प्रयोजन नहीं अतः एव विषयसुखार्थी विद्या और विद्यार्थी विषय सुख को छोड़ देवे”

३ तप—महाभारत में कहा है:—

आलस्यं मदमोहश्च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानत्वं तथा त्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।

अर्थात्—“आलस्य, मद का मोह, चपलता, गोष्ठी (हानि-कारक बैठक) जड़ता, अभिमान, विशेषत्याग ये सात दोष-

सदा विद्यार्थियों में होते हैं” इन्हीं दोषों से बचने और तृष्णा दिकों में न पड़ कर संयम से रहने को तप कहते हैं “तपो द्वन्द्व सहनम्” अर्थात् धर्म कार्यों में कठिनाइयों के सहने का नाम तप है। मनुष्य तप द्वारा ही महान सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है।

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।

सर्वं तु तपसासाध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ॥

अर्थात्—“संसार में जो कठिनता से तरनेयोग्य, दुर्लभ, पहुंचने में कठिन और कष्टसाध्य कार्य हैं वे सब तपसे साधन किये जा सकते हैं तप को कोई उल्लंघन नहीं कर सकता” कुमार जितना हो अधिक तप कर लेंगे उनका आगामी जीवन उतना ही सुखमय होगा, जितनी अधिक गर्मी पड़ती है उतनी ही अधिक वर्षा होती है। जितना ही वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन सदाचार के षट् शत्रुओं को जीत लेंगे उतने ही सफलमनोग्ध वे होंगे। कुमारों को उचित है कि इन शत्रुओं को अपने पास न फटकने दें।

४ स्वाध्याय—सदाचारी बनने के लिये स्वाध्याय एक उत्तम साधन है। उत्तम पुस्तकों के स्वाध्याय के विषय में चरित्र-संगठन प्रकरण में कहा जा चुका है। “जिससे मनुष्य विद्यादि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित रह सके वह शिक्षा कहलाती है” कुमारों को उचित है

कि अपने पूर्वज वीरों और धार्मिक विद्वानों के इतिहास को मनन किया करें। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान ह्यलप्स का कथन है:—

“The heroic example of old days is in great part the source of the courage of each generation and men walk up composedly to the most perilous enterprises beckoned onwards by the shades of the braves that were.”

अर्थात्—“प्राचीन वीरता का दृष्टान्त ही प्रत्येक पीढ़ी के लिये साहस का स्रोत है और पूर्वज वीरों के दृष्टान्त से उत्तेजित होकर मनुष्य धीरता से बड़े भयावने कार्य करने लगते हैं”

५—ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वरभक्ति:—भक्त की भावना की आजकल हँसी उड़ाई जाती है परन्तु भक्तिभावना कोमल फूल के समान है तर्क की कुल्हाड़ी से काटने पर उसमें कुछ सार न निकले तो आश्चर्य ही क्या है। कमल की कोमल पत्र-डियों को कष्ट न हो इसलिये असम्पूर्ण पादप्रक्षेप से ही घूमता हुआ फूल की मन्द मुसुकान पर मुग्ध हो धीमे स्वर से गायन करता हुआ मधुप कहां और कहां जड़ और पत्तों समेत एक कवल करजानेवाली बकरी ? भक्त और तार्किक में बड़ा अन्तर है। तार्किक को ईश्वर परोक्ष, और सामने थाल में रखे हुए लड्डू प्रत्यक्ष हैं। भक्त का सर्व आदर्श ईश्वर है। शील का आदर्श, सुन्दरता की सीमा, बल का भंडार, ज्ञान का स्रोत सब कुछ ईश्वर है। सेव्य ईश्वर है, ज्ञातव्य ईश्वर

है, सुमार्ग पर चलाने वाला और कुमार्ग से हटाने वाला ईश्वर है। ईश्वर सर्वव्यापी है सर्व शक्तिमान है। कोई प्रलोभन ईश्वर की मोहनी से अधिक मोहित करनेवाला नहीं है कोई ईश्वर के बल के सामने पार नहीं पा सकता उसके सामने मद, मात्सर्य नहीं ठहर सकते आदि भाव भक्त के प्राण हैं।

योग्य भक्त बनने के लिये पवित्र होने की आवश्यकता है, क्योंकि नित्यशुद्धबुद्ध के पास मलिनता को स्थान नहीं मिल सकता। परमात्मा दुराचारियों का काल है फिर उसका भक्त भी हो और दुराचारी भी हो यह दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं। परमात्मा को अन्तरात्मा में व्यापक मानने-वाला भक्त झूठ और चोरी में नहीं फँस सकता क्योंकि उससे कुछ छिप नहीं सकता है। ईश्वर भक्त का पिता है और जगत्-पिता की सृष्टि भक्त का कुटुम्ब है अतएव भक्त किसी कुटुम्बी को दुःख पहुंचाकर वंशघातकी नहीं बनसकता। ईश्वर के बनाये नियमों का उल्लङ्घन करनेवाला तथा उसकी सौंपी हुई वस्तु इस काया को नष्ट करनेवाला ईश्वर का भक्त या दास नहीं हो सकता क्योंकि वह समझता है कि “सेवक सोइ जो करै सेवकाई”। यही ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर को सर्वव्यापक और सर्वदृष्टा समझो जिस प्रकार पिताके समीप वा माता की गोद में बैठे हुए बालक परस्पर द्रोह तथा दुराचार नहीं कर सकते उसी प्रकार जो कुमार उस परमात्मा को “यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति” अर्थात् “परमात्मा सब जीवों

को ऐसे देखता है मानो वे उसी में बैठे हों" ऐसा समझता वह कभी दुराचार में प्रवृत्त नहीं हो सकता ।

यम ।

१ अहिंसा—“प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसनम्” किसी जीव के प्राणों को आत्मा से पृथक् कर देना हिंसा और उसको छोड़ देना अहिंसा है । “हिंसा परपीडनम्” दूसरे को बिना कारण दुःख देना भी हिंसा है और उसका छोड़ देना अहिंसा है । योगशास्त्र के अनुसार अहिंसा का फल वैरत्याग है । पर परिणाम पर भी दृष्टि डालनी चाहिये । जैसे गुरु शिष्य को थप्पड़ लगता है, राजा चोर को दण्ड देता है ये बातें हिंसापरक नहीं होंगी क्योंकि ये उनके सुधार के लिये और इसका परिणाम सुखद है । अहिंसा के अन्तर्गत दया, क्षमा, शील और कृतज्ञता के भाव आजाते हैं । अपने से निर्बल निरपराधियों के प्रति अहिंसा का भाव साधारणतः दया कहलाता है । अपराधी और अपने कृत्य पर पछताने वाले जीव पर अहिंसात्मक भाव क्षमा होजाता है, और जिसने अपने प्रति उपकार किया हो उसके सम्बन्ध में अहिंसा कृतज्ञता का रूप धारण करती है तथा उद्दण्डता-राहित्य हृदय की कोमलता और विनीतभाव मिल कर मनुष्य को शीलवान् बनाते हैं ।

यह अहिंसा का सदुपयोग है इसका दुरुपयोग वस्तुतः अहिंसा नहीं बल्कि अपनी हीनता है, अपने से बलवान् अप-

राधी के प्रति अहिंसात्मक भाव एक प्रकार की निर्बलता है, इसको क्षमा नहीं कह सकते स्वाभिमानरक्षण के लिये ऐसे अपराधी का प्रतीकार करके ही आत्मा को बल प्राप्त हो सकता है। वास्तव में इसका प्रतीकार ही अहिंसा है क्योंकि इसका कड़ा दंड ही उसके द्वारा दूसरे पर भविष्य में किये जाने वाले दुर्व्यवहार की रक्षा कर सकता है।

कृतज्ञता और दया मनुष्य के सर्वोत्तम गुण हैं। कृतज्ञता का प्रारम्भ करने के लिये कुमारों को अपने माता पिता का भक्त होना चाहिये। उनकी इच्छा के प्रतिकूल यथासम्भव कोई कार्य न करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से उनको दुःख होगा और वह एक हिंसा होगी। उन्होंने तुमको जन्म दिया है, तुम्हारा पालन पोषण किया है; तुम्हारा शरीर उनके रुधिर से बना है उनके उपकार को भूल जाना महापाप है। कुमारों के माता पिता वाल्यावस्था में उनके पालक सदाचारी संरक्षक तथा भविष्य में हितकारी सहायक और सखा होते हैं। वे अपने पुत्र के दुःख में दुःखी सुख में सुखी और उनके प्रिय करने को अपना जीवन तक अर्पण करने को उद्यत रहते हैं। ऐसे अमूल्य रत्नों को तुच्छ समझनेवाला अज्ञानी और कृतघ्न होता है। ऐसे पुरुष से ईश्वर भी घृणा करता है।

माता पिता अपने उपकारों के बदले में अपने लिये कुछ नहीं चाहते वे अपने पुत्र की उन्नति चाहते हैं, अपनी आशाओं को सफल हुआ देखना चाहते हैं। उनको यह चिन्ता नहीं कि

अपने लगाये वृक्ष की छांह में वे बैठ न पावेंगे, उनको उनसे निःसृत शीतल मन्द सुगन्ध वायु का स्पर्श न होगा। यदि उनको कुछ डर है तो यह है कि उनको कोई दुराचाररूपी कीड़े न लग जावें जिससे सुगन्धि के बदले दुर्गन्धि फैले और कोई मालियों का दोष दे। वे अपने पौधे को हरा भरा और निर्दोष देखना चाहते हैं। ऐ प्रिय कुमारो ! तुम अपने इन निस्पृह और शुभकामना करनेवाले मालियों का नित्य चरण-चुम्बन कर कृतार्थ हुआ करो। ऋषि मनुजी का आदेश है:—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणां ।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

अर्थात्—“जो कष्ट संतान पैदा करने में माता पिता उठाते हैं उससे मनुष्य सौ वर्ष में भी उद्धार नहीं हो सकता”। इनकी सेवा परम तप है जिसने इनकी सेवा की उसके सब तप पूरे हुए और जिसने नहीं की उसकी सब क्रिया निष्फल हो जाती है। इनकी सेवा से स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि है। जो मनुष्य अपने ऊपर किये उपकारों को भुला देता है उसे ईश्वर से भी दया की आशा न रखनी चाहिये। संसार में अधिकतर मनुष्य या तो तात्कालिक लाभ की आशा से उपकार किया करते हैं या कम से कम भविष्य की आशा पर, परन्तु जब वे सब ओरसे निराश होजाते हैं तो उपकार का बदला न देनेवाले के शत्रु बन जाते हैं, परन्तु माता पिता अपने कृतघ्नी पुत्र के भी

शुभचिन्तक होते हैं अतएव उनसे बढ़ कर संसार में कोई हितैषी नहीं ।

अपने से वय और ज्ञान में वृद्ध पुरुषों के साथ नम्रता के व्यवहार को शील कहते हैं जो कुमारों का भूषण है । सुशील तथा विनयी पुरुषों के सम्मुख भभकता हुआ क्रोध भी शान्त होजाता है । ज्ञानवृद्ध और धार्मिकजनों के आज्ञाकारी बनने से विद्या और सदाचार की वृद्धि होती है ।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

अर्थात्—“नित्य अभिवादन करनेवाले और वृद्ध पुरुषों की सेवा करनेवाले की उम्र, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं” ।
कवि कालिदास लिखते हैं:—

**“वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचै-
र्विनयाददृश्यत्”**

अर्थात्—“युवराज रघु बलिष्ठ होता हुआ भी नम्रता से नीचा दिखाई देता था” एक कवि का वचन है ।

विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनंमतिः ।

परलोके धनं धर्म शीलं सर्वत्र वै धनम् ॥

अर्थात्—“पर देश में विद्या धन है, आपत्ति में बुद्धि धन है, धर्म परलोक के लिये धन है पर शील सब स्थानों पर धन का काम देता है” । सदाचार में धन से अधिक शक्ति है, सदा-

चारी अपने सत्य व्यवहार और विनीत स्वाभिमान का प्रभाव दूसरों पर डालता है। सदाचारी मनुष्य की प्रकृति सर्वोत्तम होती है ऐसे मनुष्य समाज के अन्तःकरण होते हैं। दया मनुष्य के स्वभाव का ईश्वरीय भाग है अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ कवि शेक्सपियर के शब्दों में:—

The quality of mercy is not strained
 It dropeth as the gentle rain from heaven
 Upon the place beneath, it is twice blessed
 It blesseth that giveth and him that taketh,

 But mercy is above the sceptred sway
 It is enthroned in the hearts of kings
 It is an attribute in God Himself
 And earthly power doth then showlikest God's
 When mercy seasons justice.

अर्थात्—दया का गुण अभ्यास द्वारा नहीं खींचा गया यह स्वर्ग से मन्द २ वर्षा की भांति पृथिवी पर टपकता है, इसमें द्विगुण कृतार्थता है। यह आधार और आधेय दोनों को कृतार्थ करता है, परन्तु दया राजदंड के प्रभाव से ऊपर है यह राजाओं के हृदयों में विराजमान है यह स्वयं परमात्मा का गुण है और सांसारिकशक्ति जब उसके न्याय में दया का स्थान होता है उसके समान प्रतीत होती है।

२ सत्य—इसकी आवश्यकता को प्रत्येक मत के विद्वानों ने स्वीकार किया है इससे बढ़कर सत्य की महानता और क्या होसकती है कि संसार में यदि कोई झूठी वस्तु बिकती है वा झूठा काम होता है तो वह भी सत्य के नाम से। सत्य का वास्तविक लक्षण यह है कि जो बात मनुष्य के मन में जैसी हो उसको वैसा ही प्रकट करे और जैसा प्रकट करे वैसा ही आचरण करे। ऐसे सत्य को धारण करनेवाला समस्त पापोंसे बच सकता है।

सत्यमेव जयते नाऽनृतं सत्येन पंथा विततो
देवयानः । येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्त कामायत्र तत्स-
त्यस्य परमं निधानम् ॥

अर्थात्—सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है इसलिये जिस सत्य से चलकर धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं उसका सेवन क्यों न करें? एक फ़ार्सी के शायर का कथन है:—

रास्तो मूजिबे रज़ाये खुदास्त । कस न दीदम कि गुम शुद अजर रह रास्त ॥

“अर्थात्—सच्चाई ईश्वर की प्रसन्नता का हेतु है, सत्य मार्ग पर चल कर कोई नहीं भटका”।

३ अस्तेय—अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी को छोड़ देना है। एक विद्वान का वचन है:—

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चापि लज्जति ।
स्तेयं तद्धि विज्ञेयमस्तेयं ततः पृथक् ॥

अर्थात्—“जिस कर्म के करने से, करते हुए तथा करने को उद्यत होने पर मनुष्य की आत्मा में भय शंका और लज्जा उत्पन्न होती है वह स्तेय है और उसका छोड़ना अस्तेय है” । किसी बुरे काम के करते समय जो मनुष्य की आत्मा में भय शङ्का वा लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की प्रेरणा है अतः ऐसे कार्यों को छोड़ कर वे कार्य करने चाहिये जिनको हम प्रकट कर सकते हैं, जिनमें सन्देह और आत्मग्लानि नहीं है, जो आत्मप्रिय हैं । एक चोर दूसरे की चोरी कर रहा है परन्तु यदि उसी समय दूसरा चोर उसकी चोरी कर रहा हो तो उसे पसन्द नहीं करेगा, क्योंकि चोरी आत्मप्रिय कर्म नहीं है ।

४ ब्रह्मचर्य—इसके विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है ।

५ अपरिग्रह अर्थात् लोलुपता और व्यसनों को छोड़ देना—मनुष्य विषयवासना में फँस कर अपनी और संसार की बहुत बड़ी हानि करता है । स्वतन्त्रताप्रिय कुमारों को समझलेना चाहिये कि स्वेच्छाचारी और इन्द्रियारामी होने का नाम स्वतन्त्रता नहीं है किन्तु जितेन्द्रियता और मनोनिग्रह का नाम सच्ची स्वतन्त्रता है । प्रसिद्ध विद्वान् आर्थर ह्यल्प्स का वचन है:—

"The government of one's self is the only true freedom for the individual."

अर्थात्—“किसी व्यक्ति के लिये अपनी आत्मा का शासन ही सच्ची स्वतन्त्रता है” व्यसनों में फँस जाना तो महती परतन्त्रता है, क्षणिक सुख के लिये आजन्म अपङ्ग होजाना कदापि बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। ईश्वर ने शरीर दिया है उस पर किसी का आधिपत्य न हो यह स्वतन्त्रता है पर जो पुरुष अपने इस शरीर के भी स्वामी नहीं बन सकते उनको स्वतन्त्रता का स्वप्न देखना व्यर्थसा है, एक संस्कृत कविका वचन है:—

पतङ्गमातङ्गकुरङ्गभृङ्गमीना हता पञ्चभिरेवपञ्च ।

एकः प्रमादीस कथं न हन्यते ग्रसेवते पञ्चभिरेवपञ्च ॥

भावार्थ—पतङ्ग रूप में, हाथी विषयेन्द्रिय, हरिण श्रोत्रेन्द्रिय, भोंरा नासिका और मछली जीभ में आसक्त होकर नष्ट होजाते हैं फिर पांचो इन्द्रियां जिसकी पांचो विषयों में आसक्त हैं ऐसा प्रमादो पुरुष क्यों न नष्ट होगा ।

आधुनिक विद्वानों का मत है कि सदाचार में दो गुण अवश्य होना चाहिये प्रथम स्वास्थ्य—वैयक्तिक और सामाजिक और दूसरा आनन्द और स्वतन्त्रता और यह दोनों गुण अपरिग्रह में विद्यमान हैं ।

जो कुमार अपने सदाचार को अपनी किसी इन्द्रिय की तृप्ति पर बलिदान कर सकते हैं वह कभी स्वतन्त्रता का मुख

नहीं देख सकते। स्वादिष्ट भोजन के लोलुप पेटू कभी सभ्य समाज में आदरणीय नहीं हो सकते। एक विद्वान का कथन है:—

“In no profession of life are men likely to accomplish any great and good enterprise who are in any number slave to their palates”

अर्थात्—“वे मनुष्य जो जीभ के किसी अंश में भी दास हैं जीवन के किसी व्यवसाय में कोई बड़ा और साहसपूर्ण कार्य नहीं कर सकते”। जीभ क्या किसी भी इन्द्रिय का दास कभी अपने इस प्रकार के दासत्वकाल में सफलमनोरथ होजाय तो बड़े आश्चर्य की बात होगी।

सदाचार के अन्तर्गत उपरोक्त सद्गुणों के अतिरिक्त अनेक छोटे मोटे गुणों का समूह सम्मिलित किया जाता है पर मुख्य अङ्ग सदाचार के यही हैं, शेष की आवश्यकता व्यावहारिक सभ्यता में पड़ती है सदाचार केवल अपनी आत्मा को ही निर्मल और स्वतन्त्र नहीं रखता वरन् उसका प्रभाव अन्यो पर भी पड़ता है, सदाचार एक महानशक्ति है, राजकार्य भी सदाचारी मनुष्यों द्वारा अच्छे प्रकार किये जा सकते हैं। नेपोलियन ने युद्धके विषय में कहाथा कि सदाचार शारीरिक शक्ति से दश गुना अच्छा है यदि किसी मनुष्य ने शिक्षा कम पाई हो उसकी शक्तियां हीन हों उसके पास धन की मात्रा कम हो तो विशेष हानि नहीं यदि उसका चरित्र

उत्कृष्ट श्रेणी का है तो उसका आदर सर्वत्र होगा। हृदय की कोमलता के बिना विचारशक्ति, सृजनता के बिना चतुराई तथा सदाचार के बिना बुद्धिमत्ता शक्तियां तो हैं पर उनसे केवल अनर्थ ही किया जा सकता है।

सभ्यता ।

मनुष्य संसार में अकेला नहीं है। वह एक बड़े समाज का अङ्ग है। इस समाजके प्रति उसका व्यवहार कैसा होना चाहिये, उसको सभाओं तथा व्यक्तियों के सम्मुख किस प्रकार उठना, बैठना, बोलना और चलना चाहिये, इसको व्यवहारिक सभ्यता कहते हैं। इस विषय में लोग बड़ी असावधानी करते हैं, कुमारों के मातापिता और गुरु इसको शिक्षा का विषय ही नहीं समझते, सरकारी शिक्षाक्रम में तो मानो इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं। परिणाम यह होता है कि कुमारावस्था की असावधानी से बहुत सी भद्दी आदतें पड़जाती हैं, और यद्यपि आदर्शदृष्टि से लोग उनकी कभी समालोचना नहीं करते, पर उन असभ्य आदतों के लिये वे मन ही मन हँसते हैं। मैंने एककालिज के योग्य प्रिंसिपल महाशय को देखा कि जिन्होंने ५० लम्बे वाक्यों में १०० बार "of course" (निस्सन्देह) शब्दकी अनावश्यक आवृत्ति की, एक दूसरे प्रोफेसर साहब के भाषण में you see) तुम समझे का तांता लग जाता था। एक साहब कमर पर हाथ रख कर खड़े होने के आदी होते हैं तो दूसरे नाक को लुहार की धोंकनी बनाये

डालते हैं, कोई कुर्सी पर बैठते ही शरीर पर इधर उधर खरोंचे मारने लगते हैं, कोई ऐसी लम्बी अँगड़ाई लेते हैं कि सुरसा को मात कर देते हैं। कहां तक लिखा जाय लोगों की भौंहें और कमर तक मटकती हुई देखी गई हैं, यह कुमारावस्था की पड़ी हुई आदतें हैं।

इस विषय को अभी तक लोगों ने अनुकरण के ऊपर ही छोड़ दिया है ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि नीति और धर्म पर पोथे के पोथे रंगे हुए मिलेंगे परन्तु इस विषय पर बहुत कम साहित्य प्राप्त है। यद्यपि यह ठीक है कि इसके लिये अनुकरण उत्तम शिक्षक और समालोचना सर्वोत्तम सुधारक है। परन्तु आजकल के वातावरण में जहां लोभी गुरुलालची चेला का शोचनीय दृश्य उपस्थित है जब गुरु महाराज ही इस विषय में कोरे हैं तो शिष्य किसका अनुकरण करें। समालोचना तो गुरु महाराज के कर्त्तव्यों में है ही नहीं फिर सभ्यता की शिक्षा कहां से प्राप्त हो। जो दुष्टस्वभाव तथा असभ्य आदतें पड़ जाती हैं ज्यों की त्यों आमरण बनी रहती हैं। यहां तक कि प्रौढ़ जीवन में प्रथम तो सुधारना कठिन होजाता है दूसरे कुछ निर्लज्जता में डुबोने का प्रयत्न होने लगता है ऐसी दशा में कुमारों को स्वयं अपना सुधार करना चाहिये। वह इस तरह कि अपना दोष शीघ्र देखने में नहीं आता पर दूसरे का तुरन्त दिखाई देने लगता है बस जिस आदत को तुम दूसरों में असभ्यता का चिन्ह समझो उसकी अपने

में टटोल करो यदि उसका अंश भी पाओ तो उससे आगे के लिये सावधान रहो बस आदत छूट जावेगी । जिस गुण का प्रभाव तुम्हारे ऊपर पड़े और जिसके लिये तुम्हारा हृदय धन्य २ कहने लगे उसको वर्तने का कोई अवसर न चूको ऐसा समझ कर कि यह एक मामूली बात है इसका जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है किसी बात की उपेक्षा न करो क्योंकि एक २ काला बिन्दु मिल कर बड़ा दाग बन जाता है ।

सबसे प्रथम इस विषय पर कुछ नियम यद्यपि उनमें धार्मिकता पर अधिक जोर दिया गया है गोभिलीय गृह्य-सूत्र में दिये हैं वे जिनका कुछ वर्णन ब्रह्मचर्य प्रकरण में दिया जा चुका है सदाचार व्यावहारिक सभ्यता के उत्तम नियम हैं । श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस विषय पर एक छोटी पुस्तक "व्यवहारभानु" लिखी है और कुछ सज्जनों का ध्यान वर्तमान में इस ओर आकर्षित हुआ है, और कुछ ग्रन्थ इस विषय के मिलते हैं । व्यावहारिक सभ्यता के कतिपय नियम सुमनचयन प्रकरण में दिये जावेंगे ।



समाजसेवा ।

मनुष्य स्वभाव के दो पहलू हैं एक उसको अपनी ओर खींचता है दूसरा समाज की ओर, स्वार्थपरता मनुष्य का स्वभावज गुण है। अपना बचाव, अपनी उन्नति तथा अपना आराम चाहना मनुष्य का जीवसुलभ गुण है, परन्तु इस पशुसुलभ गुण के साथ २ मनुष्य में दया और परोपकार के भाव भी हैं जो उसे पशुसमाज पर विशेषता देते हैं। मनुष्य की इस परोपकार बुद्धि से समाज का प्रारम्भ होता है।

यह दोनों प्रवृत्तियाँ सम्मुख खड़ी २ बड़ा ही कोलाहल कर रही हैं। मनुष्य की स्वार्थपरता उसे सब की ओर से विमुख कर अपने ही लिये सब कुछ कराना चाहती है उसके कारण मनुष्य समाज का अनिष्ट करने पर उतारू होजाता है। इसी स्वार्थपरता के कारण बाप बेटे में लड़ाई होती है, भाई २ कट जाते हैं। हिंसा और प्रतिहिंसा इसके दो हाथ हैं, ईर्ष्या और द्वेष इसके पग हैं, जहाँ इनका पदार्पण होता है वहाँ कलह और अशान्ति का राज्य होजाता है। पर इस अनिष्ट और संघातक प्रवृत्ति के साथ २ मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति उसे अनेक चेष्टा करने पर भी अकेला न रहने के लिये विवश करती है। प्रेम की चिनगारी मनुष्य के हृदय में प्रकृति से रखदी गई है, दूसरे को दुखी देख कर एकबार उसका हृदय कंप जाग्र

स्वाभाविक है। मनुष्य न अकेला पैदा हुआ न अकेला रह सकता है। एक ओर तो सामाजिक विवेक की प्रवृत्ति उसे उच्चता के प्रासाद के सोपान पर चढ़ाना चाहती है दूसरी ओर स्वार्थमयी तृष्णा उसे नीचता के गर्त में ढकेलना चाहती है, इसी द्वन्द्व युद्ध पर संयम रखते हुए मनुष्य को उच्छृङ्खल न होने देने तथा उसकी सामाजिक प्रवृत्ति की रक्षा करने के लिये समाज की रचना और इसके नियमों की उत्पत्ति होती है।

जिस प्रकार अन्य अनेक विद्याओं का प्रादुर्भाव भारतवर्ष से हुआ उसी प्रकार सबसे प्रथम समाजशास्त्र के नियम भी इसी देशमें बनाये गये प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि सभ्यता का विकाश सब से प्रथम भारतवर्ष में हुआ है। और समाजशास्त्र का विकाश सभ्यता के विकाश पर ही निर्भर है। यद्यपि संस्कृतसाहित्य में इस विषय पर कोई विशिष्ट ग्रन्थ नहीं मिलता पर इस शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली बातों तथा पद्धतियों का विवेचन भारत की अति प्राचीन पुस्तक वेदों तक में प्राप्त है। इस शास्त्र के एक लेखक का कथन है कि हम यहां तक कहने का साहस करते हैं कि समाज-शास्त्र नामक किसी विशिष्ट शास्त्र का अस्तित्व न होने पर भी यहां के विद्वानों ने इस शास्त्र सम्बन्धी कल्पना में अपनी पराकाष्ठा बतला दी है।

पर आजकल जब हम भारतीय समाज का अवलोकन करते हैं तो उसे संसार के अन्य समाजों से हीनतम पाते हैं। वास्तव

में ऐसा कोई समाज ही नहीं दिखाई देता जिसे भारतीय समाज कहा जासके, जितना शैथिल्य, वैषम्य और जितनी दुर्गति भारतवर्ष में सामाजिक व्यवस्था की होरही है उतनी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसी सर्वव्यापी कोई सत्ता नहीं है जो समाज के अस्तव्यस्त अंगों को एकत्रित करसके। यहां पर जो राजनैतिक सत्ता है उसका समाजसुधार से कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाई पड़ता, इसके विपरीत कहीं २ तो सामाजिक संगठन से उसकी प्रतिकूलता दिखाई पड़ती है, भारतीय समाज के संगठित होकर शक्तिसम्पन्न होने में मानो उस सत्ता को धक्का पहुंचता है।

मनुष्य समाज के लिये सामाजिक उन्नति का उपदेश जिन २ देशों में हुआ है वहां “कोई नृप होय हमें का हानी। चेरी छोड़ि न होउव रानी” ऐसे उदासीनभावापन्न शब्द नहीं सुनाई पड़ते। जिस प्रकार व्यक्तियों से समाज की सृष्टि होती है उसी प्रकार समाज के नाश से व्यक्तित्व का नामो-निशान तक नहीं रहता। ग्रीक जाति के नाश होजाने पर कितनी यूनानी व्यक्तियां संसाररूपी आकाश पर चढ़ कर प्रकाशमान हुईं? समाज के पराधीन तथा पददलित होने से व्यक्ति के उन्नति करने का वही अवसर नहीं रहता जो स्वतन्त्रताभोगी समाज में। पराधीन देश तथा गिरी हुई समाज में व्यक्तियों की जो दुर्दशा होती है उसका प्रत्यक्ष उदाहरण हिन्दू समाज है।

वास्तव में सामाजिक जीवन ही जीवन है, वैयक्तिक-विकाश तो नांद के नीचे रक्खा हुआ लेम्प है जिसका उजाला नांद के ढके भाग को ही लाभ पहुंचाता है। वह गूंगे के गुड़ की भांति है। ऐसी उन्नति से लाभ ही क्या जिससे न कोई प्रसन्न होता है न किसी को लाभ पहुंचता है? यदि वह उन्नत न होता तो समाज की क्या हानि होती? उन्नति की वास्तविक माप तो समाज है, वह असंख्यसम्पत्तिवान क्यों-कर सुखी होसकता है जो विधवाओं के आर्तनाद, अनाथ और अपढ़ों के क्रन्दन से घिरा हुआ है? क्या आग से घिरा हुआ जल शीतल रह सकता है? जिसके चारों ओर दुष्ट हों उस व्यक्ति के विचार उत्तम रहना अति कठिन हैं।

सच्चा जीवनोद्देश्य तो अपने देश और जाति की उन्नति है यदि एक मनुष्य के पास लाखों की सम्पत्ति है और दूसरे के पास केवल अपनी सामान्य आवश्यकतानुसार, यदि पहला मनुष्य अपनी सम्पत्ति का लाख गुना उपयोग नहीं कर-सकता तो उसमें और दूसरे मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। एक कवि का वचन है कि “यदि ताले में बन्द वा कोप में रक्खे हुए धन से लोग धनिक कहलाते हैं तो उसी धन से हम धनी क्यों नहीं हैं”? यही दशा उस विद्वान् पुरुष की है जिसकी विद्या पुस्तकों में बन्द है और संसार को वितरण नहीं करता। एक पुरुष जो अपनी आत्मा के कल्याणार्थ बन में तप कर रहा है और संसार का कुछ उपकार नहीं करता वह उस बन-

वृक्ष की भांति है जो बनमें लोगों की अज्ञातदशा में फल फूल कर अपने आप सूख जाता है। जो व्यक्ति समाज के किसी काम नहीं आता वह उस समाज के लिये मृतवत् है। एक कवि का वचन है:—

योनात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे,
दीने दयां न कुरुते न च मर्त्यवर्गे ।
किंतस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके,
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥

अर्थात्—“जो न अपने न दूसरों में न बन्धुवर्ग में न दीनों और न मनुष्यलोक में दया करता है उसके जीने का क्या फल है यों तो कौवा भी चिरकाल तक जीता और बलि खाता रहता है” ।

समाज सेवा मनुष्य को उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है। मनुष्य का स्वभाव है कि कम से कम परिश्रम करे और अधिक से अधिक फल चाहे। जिस मनुष्य का उद्देश्य अपनी ही उदरपूर्ति करना है उसे एक साधारण पशु से अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं, इसी लिये वह शीघ्र ही आलसी होजाना है, कूपमंडूक मनुष्यों की उन्नति की यही दशा है, परन्तु जिनका उद्देश्य समाजसेवा है उनका उद्देश्य बहुत ऊंचा है और कार्यक्षेत्र विस्तीर्ण है, उनका कुटुम्ब बड़ा है उनके परिश्रम की इयत्ता नहीं। उन्नतिपथ पर अग्रसर

होने और परिश्रम में संलग्न रहने के लिये समाजसेवा एक उपयोगी कोड़ा है।

जो मनुष्य प्रत्येक कार्य अपने लिये ही करता है वह सदा सुख दुःख के झूले में झूलता रहता है, परन्तु जो दूसरों के लिये कार्य करता है उसको कार्य सिद्ध होने पर दोहरा आनन्द होता है पर कार्य की असफलता पर दुःख नहीं होता। उसे कार्य के सिद्ध होजाने पर एक तो अपने परिश्रम के सफल होने की प्रसन्नता होती है दूसरी समाज को लाभ पहुंचाने की, अगर कार्य में असफलता हुई तो उसको यह समझ कर संतोष होता है कि हमने कर्त्तव्य का पालन किया, फल ईश्वर-राधीन है। यह निष्काम योग स्वार्थपर व्यक्ति की शक्ति में नहीं है। क्योंकि स्वार्थसाधनार्थ किये कर्म में धन ही मुख्य होता है। निष्काम कर्मयोग का आधार और सतत आनन्द पाने का साधन समाजसेवा है। योगिराज श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता में उपदेश करते हैं:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ १ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २ ॥

अर्थात्—“कर्म करो कर्मफल की आशा मत करो, कर्मफल को ही कर्म करने का कारण मत बनाओ और निकम्मे भी न

रहो । है धनंजय ! तुम योगस्थ होकर कर्म करो, फल की आशा कभी मत करो, सफलता और असफलता दोनों को समान मान कर ही कर्म करो क्योंकि इसी समज्ञान को योग कहते हैं" । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि निष्कामकर्म का प्रयोजन कर्म का छोड़ना नहीं है किन्तु स्वार्थ को त्यागकर समाजसेवा करना निष्कामकर्म है ।

प्रत्येक क्रिया के अतिशय पर पहुँचने पर उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ होजाती है, यथा अत्यन्त प्रेम घृणा को जन्म देबैठता है, अत्याचार का अन्त भयानक शान्ति में होता है । इसी प्रकार स्वार्थ जब अति को प्राप्त होजाता है तो निर्वेद को स्थान देबैठता है । स्वार्थी मनुष्य शीघ्र ही अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु देखता है उसका स्वार्थ ही उसे भयभीत करने लगता है, निगाशारूपी चांडालिन उसके पीछे पड़जाती है । यदि इस अवस्था में उसकी आखें समाज की ओर फिर गईं तो उसका त्राण होजाता है, अन्यथा उसका परिणाम भयानक होता है इसका कारण यह है कि स्वार्थ आत्मा का बन्धन है और उदारता आत्मा की स्वतन्त्रता । मनुष्य जैसा स्वार्थी होता जाता है आत्मा का पर्यटनस्थान उतना ही संकुचित होताजाता है यहां तक कि एक समय आता है जब आत्मा अपने को बुरी तरह घिरा पाती है उसके समस्त गुण और शक्तियां संकुचित होकर मृतप्राय होजाती हैं । यह आत्मा की मृत्यु है । इस विषय को वेद ने इस भांति वर्णन किया है:—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनः ॥

अर्थात्—“आत्मा को हनन करनेवाले पुरुष अन्धकार-मय लोकों को प्राप्त होते हैं” । दूसरी ओर उदार पुरुष की परोपकारबुद्धि उसकी आत्मा को विशालतर बनाती जाती है । उसका कार्यक्षेत्र बढ़ता जाता है, आज वह गांव के दुःख से दुखी सुख से सुखी, कल वह प्रान्त के दुःख से दुखी और सुख से सुखी होता है, पश्चात् वह देश की उन्नति को अपनी उन्नति और अपमान को अपना अपमान समझता है; आज वह गांव की आत्मा है, कल प्रान्त की और परश्व देश की आत्मा होजाता है । इस प्रकार कुमार समाज के सेवापरक गुणों को धारण कर अपने को महान बना सकते हैं । कहा भी है:—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात्—“यह मेरा यह पराया ऐसा विचार क्षुद्राशय लोगों का होता है विशालचरित्र महानुभावों को समस्त वसुधा ही कुटुम्ब है” ।

प्रत्येक कुमार को अपनी उन्नति के साथ-२ दूसरों की उन्नति का भी ध्यान रखना चाहिये और ईर्ष्यारूपी रोगसे सदैव बचे रहना चाहिये, जो मनुष्य आप अच्छा कार्य न करता हुआ दूसरे यशस्वी पुरुषों को बुरा कहता है वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता । महात्मा भर्तृहरि का वचन है:—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
 सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
 तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
 ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं तेके न जानीमहे ॥

अर्थात्—“जो अपने स्वार्थ की हानि कर दूसरे का कार्य करते हैं वे सत्पुरुष हैं, जो अपनी हानि न करते हुए दूसरे के कार्य का साधन करते हैं वे सामान्य हैं, और वे मनुष्यरूपी राक्षस हैं जो अपने लाभ के लिये दूसरों की हानि कर देते हैं, परन्तु जो व्यर्थ ही दूसरों को हानि पहुंचाते हैं वे न जाने कौन हैं” ।

संसार की कोई वस्तु स्वतः भली वा बुरी नहीं है । उसका उपयोग ही उसको भला या बुरा बना देता है । दुष्ट मनुष्य अच्छी से अच्छी वस्तु को नीच कार्य में प्रयोग कर घृणास्पद और हानिकर बनादेता है । उसकी धन, बल और विद्यादि शक्तियां सर्प के मुख में पड़े हुए दुग्ध की भांति विषमय होजाती हैं यथाः—

विद्या विवादाय धनं सदाय,

शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्,

ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

अर्थात्—“दुष्ट मनुष्य और साधु में यह विपरीतता है कि एक की विद्या वाद करने के लिये, धन अभिमान के लिये और बल दूसरों को दुःख पहुंचाने के लिये होता है और दूसरे की विद्या ज्ञान के लिये, धन दानार्थ और शक्ति दीनों की रक्षा के लिये होती है” । उदार और परोपकारी मनुष्य के हाथ का यह सौभाग्य है कि उसमें आकर क्षुद्रातिक्षुद्र कार्य भी महत्ता को धारण कर लेता है । उसके उदार और उच्चभावों का प्रताप सूर्य की प्रकाशमय किरणों की भांति प्रभावोत्पादक और सर्वसुखकारी होता है । परोपकारी पुरुष को चारों ओर सखा और सहायक दिखाई पड़ते हैं । वह स्वयं तो प्रसन्न रहता ही है जहां जाता है वहां भी सुधाकर की भांति आमोदरूपी अमृत का वर्षा करता है । परन्तु जो स्वार्थपर हैं उनको प्रत्येक मनुष्य उनकी सुखसामित्री का हर्त्ता और अविश्वसनीय प्रतीत होता है, उसका जीवन अशान्त और दुःखमय होता है । स्वार्थी अपना बन्दीगृह अपने आप बना लेता है और अन्त में असहाय और अनाथ की गति को प्राप्त होता है । जो दूसरे के दुःख से दुःखी नहीं होता उसके दुःख से दुःखी होनेवाला उसको नहीं मिलता । जो अपने भोगविलास को ही सब कुछ समझता है वह अपनी मृत्यु पर चढ़ने के लिये मोटा बलिपशु बन रहा है । पादरी जॉस एलन कहते हैं:—

“Whoever walks a furlong without sympathy walks to his own funeral dressed in a shroud.”

अर्थात्—“जो कोई सहृदयता के भाव के बिना एक फर्लाङ्ग भा चलता है वह मृतकवस्त्र में ढका हुआ अपने श्मसान की ओर जाता है”। विद्यार्थियों को अपने सहपाठियों के साथ भ्रातृभाव रखना चाहिये। समवेदना की सहायता घना-दिक के सहाय्य से उच्चतरकोटि की है। तीव्र बुद्धि और परिश्रमी विद्यार्थियों को साथियों के हितकर कार्यों में योग देने के लिये समय की कमी नहीं रहती। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपनी विद्यार्थी अवस्था में चार २ सहपाठियों का भोजन बनाते थे और अपनी कक्षा में सदा प्रथम रहते थे।

जीवन का एक उत्तम उद्देश्य सार्वजनिक भ्रातृभाव है जिसकी प्रत्येक मत के विद्वानों ने स्वीकार किया है:—

“**प्रात्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**”

“उच्चि बरखुद न पसन्दो बरदीगरां हम मपसन्द”

What you dislike your self donot approve for others.

भावार्थ—जो बात तुम अपने लिये नापसन्द करते हो उसको दूसरों के प्रति भी न करो।

भारतीय समाज की सबसे बड़ी आशा कुमारों से यह है कि वे उसके मुख को संसार में उज्ज्वल कर उत्तम नागरिक का उदाहरण उपस्थित करें। उन्नतशील देशों के पुरुष इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके देशवासी कुमारों के ऐसे उत्तम संस्कार हों कि वे भविष्य में उत्तम नागरिक बनें और

समाज के भाररूप न होकर उसके सहायक बनें। उन्होंने एक आन्दोलन चला रक्खा है जिसका उद्देश्य कुमारों में सामाजिक प्रवृत्ति को जगाना तथा उनको समाज के पुष्ट अङ्ग बनाना है और यही बालचर आन्दोलन का रहस्य है।

The underlying principle of scouting is the developement of community interst among boys. After-all scouting does not consist in the wearing of a khaki uniform decorated with badges of various degrees. Unless the scout has caught the spirit of the early pioneers, the former scouts or the knights of the old and has thereby become trustworthy, loyal, helpful, friendly, courteous, kind, obedient, cheerful, thrifty, brave, clean, and reverent, he has certainly failed in meeting the requirement to become a first class scout.

अर्थात्—बालचर्य का भीतरी सिद्धान्त बालकों में सामाजिक प्रेम की वृद्धि करना है। बालचर्य केवल खाकी बरदी धारण करने और कतिपय उपाधियों के बिल्ले लटकाने में नहीं है, जब तक बालचर के हृदय में पहले के पथप्रदर्शकों प्राचीन बालचरों—अथवा प्राचीन सदाँरों के भाव उदय नहीं हुए और वह विश्वस्त, राजभक्त, प्रजाभक्त, सहायक,

मिलनसार, सभ्य, दयावान, आज्ञाकारी, प्रसन्नचित्त मित-व्ययी, शूर, पवित्र और आदरणीय नहीं हो पाया तो वास्तव में प्रथम श्रेणी के बालचर के गुणों को प्राप्त करने में असफल रहा है।

इस आन्दोलन का उद्देश्य श्लाघनीय है। हमारे देश में भी इस बालचर आन्दोलन का प्रचार होचला है, हम अपने देश के कुमारों से यह आशा करते हैं कि उनमें से प्रत्येक (First class scout) प्रथम श्रेणी का बालचर होने का प्रयत्न करेगा। बालचर की प्रतिज्ञाएँ कुमारों के कर्त्तव्य की संक्षिप्त सूची हैं। कुमारों को उन्हें सदा हृदय में रख कर पालन करना चाहिये।

किसी समाज की सेवा के लिये उस समाज की स्थिति का ज्ञान होना परमावश्यक है वर्त्तमान में जो स्थिति हमारे देश और समाज की है वह किसी से छिपी नहीं है, संसार में यदि किसी समाज को सुधारकों और सेवकों की आवश्यकता है तो भारतीय समाज को है। इस समाज के रोग मूलबद्ध और पूर्ण प्रकट हैं। कुमारों का समाज के प्रति प्रथम कर्त्तव्य अपने को उदाहरणीय चरित्रवान् और उत्तम नागरिक बनाना है। जहां अन्य देशीय कुमारों को अपने वर्त्तमान बुजुर्गों के उन्नतपथ पर चलना है, वहां भारतवर्षीय कुमारों को अपने ५ हजार वर्ष पूर्व के महापुरुषों के अनुकरण की आवश्यकता है। यतिवर हनूमानजी बालचरों में प्रथम उल्लेखनीय इसी

भारतवर्ष की सन्तान थे, ताड़का और सुबाहु का बध कर ऋषि की यज्ञरक्षा करनेवाले रामलक्ष्मण, अपने प्राणों की परवाह न कर ब्राह्मणपुत्र की मृत्यु को अपने ऊपर लेने वाला भीमपराक्रम भीमसेन, कंस को बध कर उग्रसेन को राज देने वाले श्रीकृष्ण और बलराम क्या कुमार न थे ? क्या भारत-वासी न थे ? क्या उनके ये कार्य समाजसेवा के उत्कृष्ट उदाहरण नहीं हैं यदि यह सब बातें यथार्थ हैं तो क्यों भारत-वर्षीय कुमार उत्तम बालचर और निस्पृह समाजसेवक नहीं बनसकते ।

भारतीय कुमारों को बहुत कुछ करना है । सबसे प्रथम इन्हें समाज में घुसे हुए रोगों को अपने पुरुषार्थ से हटाना है । समाज में प्रेम का अभाव, मतमतान्तरों की अग्नि, छुआछूत का भूत, गृहकलहरूपी सर्पिणी, स्त्री पुरुष के अधिकारों का वैषम्य, वर्णाश्रम धर्म और संस्कारों की अवहेलना, विधवा और अनाथों की दुर्गति, चरित्रहीनता, व्यभिचार, स्वार्थान्धता, भयंकर भूख और अनधिकारचेष्टा भारतीय समाज के पेटेंट रोग हो रहे हैं । भारतीय समाज को इन रोगों से मुक्त कर प्रेम और संगठन की रसायन देकर पुष्ट करना भारतीय कुमारों का उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य है ।

भारतमहिमा और मातृभूमिसेवा ।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है ।

वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है ॥

जिस प्रकार अपने मातापिता का जिन्होंने हमें जन्म दिया है, और हमारा लालन पालन किया है कृतज्ञ होना हमारा कर्त्तव्य है उसी भांति जिस देश में हमारा जन्म हुआ है और जिसका अन्न खाकर हम जीवित रहे और रहेंगे, उसके प्रति कृतज्ञता पकट करना, उसके दुःखों को दूर करना और उसके गौरव का बढ़ाना भी कुमारों का श्लाघ्य कर्त्तव्य है । गुरुओं की गुरु मातृभाषा और मातापिताओं की जन्मदा, मातृभूमि का अधिकार हमारे ऊपर सब से प्रथम है, प्रत्येक कुमार के हृदय में अपनी जन्मभूमि और मातृभाषा की भक्ति होनी चाहिये ।

संसार के इतिहास में ऐसे देशों और जातियों का पता लगता है जो किसी समय में उन्नतिशील कही जाती थीं, पर अब उनके कलाकौशल, साहित्य, सम्पत्ता आदि का वर्णन इतिहास के पृष्ठों की शोभा है तथा इतिहास प्रेमी पुरातत्व-खोजी पुरुषों द्वारा एकत्रित उनकी कलाकौशल के नमूने

अजायबघरों की भण्डारवृद्धि के कारणमात्र हैं । उनके वे पूर्वज जिन्होंने अपने देश व जाति की सभ्यता की रक्षा अपना रुधिर बहाकर की थी, अपनी उस कायर सन्तान के लिये आठ २ आंसू बहाते होंगे । अतः ऐ वीर कुमारो ! प्रत्येक देश के उन्नायक और रक्षक जिन्होंने अपना रुधिर बहाकर देश और जाति की कठिन समय में रक्षा की पूजा के पात्र हैं । इन प्रातःस्मरणीय जातिरक्षक वीरों और महापुरुषों का ऋण तुम्हारे ऊपर है । इससे उऋण होना प्रत्येक देशाभिमानी कुमार का कर्त्तव्य है ।

भारतीय कुमारों का यह ऋण विशेष गुरु है क्योंकि उनके पूर्वज वीरों और महापुरुषों के कठिन परिश्रम और आत्म-बलिदान ने भारतवर्ष को अन्य देशों का मुकुटमणि बना दिया था । उनके ही उग्रतप के कारण अनेकों विपत्तियों को सहन करती हुई आर्य जाति अब तक शेष है । जिसके पास जितनी ही विपुल रत्नराशि होती है उसको उतना ही चौकन्ना रहना पड़ता है । भारतवर्षीय कुमारों को अपने पूर्वजों के कृत्यों और अपनी प्राचीन सभ्यता के ऊपर गर्व करने का अवसर प्राप्त है अतः उनका कर्त्तव्य कठिनतर है । आर्यावर्त्तदेश के विषय में भगवान् मनु का कथन है:—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वस्वंचरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अर्थात् “इसो देश के पूर्वज विद्वानों से अन्य देश वालों ने विद्या और सदाचार की शिक्षा प्राप्त की है” । यह केवल हमारे पूर्वजों की आत्मश्लाघा नहीं है वरन् इसकी यथार्थता विदेशी विद्वान भी स्वीकार करते हैं । प्रोफ़ेसर हीरन अपनी पुस्तक हिस्टोरिकल रिसर्चिज़ के पृष्ठ ४५ पर लिखते हैं:—

“India is the source from which not only the rest of Asia but the whole Western World derived their knowledge and their religion.”

अर्थात् “भारतवर्ष वह स्रोत है जहां से न केवल शेष एशिया ने वरन् समस्त पाश्चात्य जगत ने विद्या और धर्म को प्राप्त किया है” । इसके प्रत्यक्ष प्रमाण आज दिन प्राप्त हैं, जावाद्वीप में हिन्दूमन्दिर और हिन्दू देवताओं की मूर्तियों का प्राप्त होना इस बात को सिद्ध करता है कि किसी समय में यह द्वीपसमूह भारत की सभ्यता से प्रभावित था । जापान और चीन तो आज तक अपनी धार्मिक शिक्षा के लिये भारत का ऋणी हैं । क्योंकि उनके आदि धर्माचार्य महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि भारतवर्ष ही है । किसी २ विद्वान का तो यह मत है कि हज़रत ईसा भी किसी समय भारतवर्ष के उत्तर में आयेथे और अपने अहिंसात्मक उत्तम उपदेशों का बीज भारतवर्ष से लेगये थे । इस बात को संसार के विद्वान मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं कि गणितविद्या के जन्मदाता हिन्दू ही थे क्योंकि हिन्दुस्तान से लेजाने के कारण ही इसका

नाम हिन्दुसा रक्खा गया है। तत्त्वज्ञान में जो उन्नति भारत-वर्ष ने की थी उसको समझने में आजकल के उन्नतदेशों के बड़े २ विद्वान अपने को असमर्थ पाते हैं। साहित्य, व्याकरण, संगीत आदि कलाओं को तो भारतवर्ष के विद्वानों ने पूर्णता को पहुँचा दिया था। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान प्रोफेसर मेक्समूलर अपनी विख्यात पुस्तक इंडिया ह्याट कैन टोच अस के पृ० ६ पर लिखते हैं:—

“If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power, and beauty that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point out to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions for some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant, I should point out to India.”

अर्थात् “यदि मैं समस्त संसार को इस अन्वेषण की दृष्टि से देखूँ कि वह कौनसा देश है, जिसको प्रकृति ने सबसे अधिक धन, बल और सुन्दरता दी है और जिसके कोई २

खंड संसार में स्वर्गोपम प्रतीत होते हैं तो मैं भारतवर्ष को ओर संकेत करूंगा । यदि मुझसे पूछा जाय कि आसमान के नीचे मानवी मस्तिष्क ने अपनी बहुमूल्य दैवी सम्पत्ति की सब से अधिक कहां उन्नति की है और संसार के कठिनाति-कठिन प्रश्नों पर सब से अधिक कहां विचार किया गया है और उनमें से किसी २ का निर्णय ऐसी उत्तमता से किया गया है जो ऐसे मनुष्यों के भी मनन करने योग्य है, जिन्होंने छेदो (अफलातून) और कांट के लेखों का अध्ययन किया है, तो मैं भारतवर्ष की ओर संकेत करूंगा ” । भारतवर्ष को प्रकृति ने संसार का एक उत्कृष्ट खंड बनाया है । फ़ार्सी के प्रसिद्ध शायर उर्फी भारत के एक खंड कश्मीर की प्रशंसा में लिखते हैं:—

हर कोफ़तः जाने कि ब कश्मीर दरायद

गर मुरग़ कबाब वस्त कि बाबालो परायद

भावार्थ — “मृत प्राय प्राणी भी कश्मीर में आकर हराभरा होजाता है” । भारतवर्ष का पूर्व भव्य था उसके पूर्वज यशस्वी, विश्वविजयी और संसार के गुरु थे । भारतीय ज्ञानभंडार ने न केवल भारतवर्ष को शान्ति दी है वरन् संसार के प्रत्येक पुरुष के जीवन को जिसने इस ज्ञाननिर्भर में गीते लगाये आनन्दमय बना दिया है । शाहज़ादे (दाराशिकोह ने लिखा है कि मैंने फ़ार्सी की बहुत पुस्तकें पढ़ीं पर मेरी आत्मा को जो शान्ति उपनिषदों से मिली वह किसी से प्राप्त नहीं हुई ।

प्रसिद्ध विद्वान शोपनहार भी इसी बात की साक्षी देते हुए उपनिषदों के ज्ञान के विषय में कहते हैं:—

“It is the solace of my life and it will be the solace of my death.”

अर्थात्—“यह मेरे जीवन की शान्ति का हेतु है और मेरी मृत्यु के पश्चात् भी यह मुझे आनन्द प्रदान करेगा” । ये बातें भारतीय कुमारों के लिये गौरव की हैं । प्रत्येक कुमार को भारतीय कहलाने में अपना मान समझना चाहिये ।

संसार की उन्नति की स्पर्धा की दौड़ में अनेक देश धरा-शायी हुए हैं । जो देश आगे हैं उनसे ही आगे बढ़ने का सब देश प्रयत्न करते हैं, जिस जगह रत्नों का भंडार होता है उसी के प्राप्त करने की सब को चिन्ता रहती है, सुन्दर स्थान पर सब अधिकार जमाना चाहते हैं सारांश यह है कि भारत ऐसा देश है जिसको गिराने तथा अधिकृत करने को सब देश लालायित रहे, और हैं । उसके अधःपतन के लिये संसार की ईर्ष्या और स्पर्धारूपी राक्षसियों का प्रयत्नशील होना स्वाभाविक है । अतः भारत का भयभूत और प्राकृतिक वैभव भारतीय कुमारों के उत्तरदायित्व को बढ़ा देते हैं ।

जो देश और जातियां इस उन्नति की दौड़ में पीछे पड़ कर अपना अस्तित्व खो बैठी हैं उनमें कुछेक की सभ्यता पर्य्याप्तरूपेण चढ़ी बढ़ी थी, हमारी वर्त्तमान हीन दशा हमारे पूर्वजों के कार्यों को असम्भव और उनकी विद्या को लोक की

दृष्टि में असम्भव सिद्ध करती है। केवल कथनमात्र से कि हमारे पूर्वज दिग्विजयी थे, आकाश में उड़ते और पाताल में राज्य करते थे, बड़े ज्ञानी और कर्मवीर थे, काम नहीं चलता जिन पूर्वजों को मन्तान आज कल चूहे का कान भी न काट सके उनके विषय में सहज ही मैं यह कैसे मान लिया जाय कि वे लक्षसंहारी थे। सहस्रों वर्ष से पराधीन भारतवर्ष के पूर्वजों के विषय में इस बात के मान लेने के लिये कि वे संसार के सम्राट् थे यदि लोग तैयार न हों तो आश्चर्य ही क्या है? उन पूर्वजों का उचित आदर कराना भारत के कुमारों के हाथ है। भूतकालका गौरव और भविष्य की उन्नति वर्तमान पर अवलम्बित है।

शानदार था भूत भविष्यत् भी महान है।

अगर सम्हालें आप उसे जो वर्तमान है ॥

भारतभूमि एक विस्तृत और मनोहर नौका है इसके प्रत्येक पुरुष का जीवन उसकी रक्षा पर निर्भर है। किसी व्यक्ति विशेष के धनी, मानी विद्वान् और पहलवान होने पर उसकी रक्षा अवलम्बित नहीं, उसकी रक्षा तो नौका के सब यात्रियों के संगठन, सहनशीलता और परोपकारबुद्धि पर निर्भर है। जो पुरुष समस्त नौका की रक्षा नहीं चाहता उसकी व्यक्तिगत शक्ति उसको नाश होने से नहीं बचा सकती। नौका के डूबते ही विद्याचारिधि और करोड़पति सभी का अस्तित्व नष्ट होजायगा।

देशसेवा और मातृभूमिभक्ति का पहिला अङ्ग स्वार्थ-बलिदान है। कुमारों को अपनी उन्नति का उद्देश्य ही भारत-सेवा बनाना चाहिये, जब अपना अस्तित्व ही देश की उन्नति पर निर्भर है तो केवल अपनी ही उन्नति से क्या लाभ है? अश्वारोही के अश्व की सुन्दरता सवार की महिमा बढ़ाती है घोड़े की नहीं। एवं किसी दास की शक्ति का श्रेय स्वामी को होता है इसका कारण यह है कि वे अपना अस्तित्व खो बैठते हैं, अश्व का अस्तित्व अश्वारोही और दास का स्वामी के वशी-भूत होता है। यही बात पराधीन या अपना अस्तित्व दूसरी जाति वा देश के अन्तर्गत कर देनेवाले देश के विषय में ठहरती है। स्काटलैंड के व्यक्तियों की उन्नति इंगलैंड ही के मान का कारण होती है। तुर्किस्तान के उस भाग के जो रूस के अन्तर्गत है, महापुरुषों की शक्ति और विद्वत्ता का उल्लेख उनकी महानता के रूप में थोड़े ही होता है और यदि कमालपाशा उसी प्रान्त के वासी होते तो वे अपने देश के मान का कारण न होकर रूस के मान का कारण होते अतः देश का अस्तित्वरक्षण सच्चा स्वार्थ है और यही कुमारों के जीवन का एक महान उद्देश्य होना चाहिये।

इस विषय में देशप्रचलित कुप्रथारूपरोगों को नाश करना कुमारों का प्रथम कर्त्तव्य है क्योंकि देश में गृहकलह, दरिद्रता, मूर्खता आदि विषवल्लियां बहुत फूल फल चुकी हैं। परन्तु केवल रोगों को हटा देने से इष्ट सिद्धि नहीं होगी,

रोगों को दूर कर शक्तिसम्पादन का प्रयत्न न होने से पुनः रोग आघेरेगे। देश का धन और बल बढ़ाने के लिये उसके चय और विचय के कारणों का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है और यह भी जानना आवश्यक है कि किन २ क्रियाओं द्वारा देश का साम्प्रतिक ह्रास रुकसकता है और देश की सम्पत्ति में वृद्धि होसकती है। देश में किस प्रकार शक्तिशाली नागरिक तैयार किये जासकते हैं और उनकी शक्ति का किस प्रकार देशोद्धार में प्रयोग किया जासकता है।

सम्पत्ति के चय और विचय के तीन कारण हैं प्राकृतिक, राज्यकीय और व्यापारिक, प्राकृतिक कारणों के विषय में तो भारतवर्ष बड़ा भाग्यशाली है। उसके ऊपर प्रकृति ने बड़ी कृपा की है। व्यापारिक और राजकीय कारण सर्वथा मनुष्याधीन हैं। उचित क्रिया का अवलम्बन कर अवश्य सफलता प्राप्त की जासकती है और उस क्रियाविधि का ज्ञान सम्पादन कुमारों को इष्ट है। आज के कुमार कल नागरिक होंगे उन्हें अपने देश की दशा और उसके सुधार की विधियां मालूम रहनी चाहिये। उनमें देश के लिये हानिकारक कुप्रथाओं से लड़ने का साहस होना चाहिये।

हम इस बात के पक्षपाती नहीं कि कुमारों को राजनीति से अनभिज्ञ रक्खा जाय उन्हें देश की वास्तविक अधोगति का ज्ञान न हो और जिस समय वे कार्यक्षेत्र में आवें कर्त्तव्य-मूढ़ होजावें। परन्तु प्रत्येक कार्य का समय होता है उस

समय में वह कार्य करने से पूर्ण लाभ होता है, अन्यथा सदा के लिये अधूरापन रह जाता है। प्रकृति को भी बालक को उदर में नौ मास तक रखने की आवश्यकता होती है अतः जो समय कुमारों के ज्ञानसम्पादन का है उसको प्रयोग करने में नष्ट न करना चाहिये। यहां प्रयोग से उस प्रयोग से तात्पर्य नहीं है जिसके बिना ज्ञान सम्पादन ही नहीं हो सकता। जैसे विज्ञानप्रयोगशाला (Laboratory) में कुमारों का थर्मामीटर आदि यंत्र बनाना ज्ञान सम्पादन के लिये है परन्तु यदि कोई विद्यार्थी यह चाहे कि चूँकि उसे थर्मामीटर बनाना आगया इसलिये थर्मामीटर बनानेका व्यापार करनेलगे तो वह अवश्यही अन्य उपयोगी बातोंके ज्ञानसे वंचित रहजावेगा, किसी लकड़ी के काम सीखनेवाले कुमारको यदि पालिश करना आजाय और वह उसी कार्य में लग जाय तो उसका ज्ञान अधूरा रह जावेगा। कुमारों को उचित है कि वे संयम से ज्ञान सम्पादन करते जावें और जब तक इष्ट ज्ञान सम्पादन कर योग्य नागरिक बनने के अधिकारी न होजायँ तब तक क्षणिक उद्वेगों के वशीभूत हो अपने व्रत को भंग न करें। देश का उत्थान वर्ष दो वर्ष की बात नहीं और न एक पुरुष के मरने वा बन्दी किये जाने पर निर्भर है।

कुमारों को बड़े २ राजनैतिक आन्दोलनों में पड़कर अपने जीवन को पंगु कर देना उचित नहीं है। क्षणिक उद्वेगों के कारण विद्या व्रत भंगकर अपने जीवन को नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता

नहीं है। जिस आन्दोलन में आज क्षणिक उद्वेग के कारण विद्याव्रत भंगकर एक कुमार भाग लेना चाहता है उसी कार्य को कुछ समय पश्चात् ज्ञानसम्पादन कर लेने पर अधिक योग्यता से कर सकेगा। उस समय जो प्रभाव उसके कार्यों का पड़ेगा वह आज नहीं पड़ सकता अतएव उस आन्दोलन के लिये भी उसे अभी उस में न कूदना ही अच्छा होगा। भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य का युद्ध आज समाप्त नहीं होता, पर कुमारों के व्रत का समय अवश्य पुनः न आवेगा। नेता बनने की भूख की अग्नि में अपने जीवन को खाहा कर देना अज्ञानता है। सर्वसाधारण की क्षणिक चाह २ में बह जाने से कुमारों को पछताना पड़ेगा।

राजनैतिक आन्दोलनों में कूदनेवाले अधिकांश पुरुष नेता बनने की लालसा से लिपटे रहते हैं। उपरोक्त कथन का सारांश यही है कि कुमारों को राजनैतिक नेता बनने की भूख न होना चाहिये। सर्वसाधारण की चाह २ से पागल न होना चाहिये। कुमारों का रुधिर शीघ्र ही उत्तप्त हो जाता है इसीलिये हमारे शास्त्रों में कुमारों के लिये आज्ञा है कि "सभा-सत्सु मागन्ताः" सभा समाजों में मत जाओ। इसका तात्पर्य यही है कि कुमारों को राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने से उनके रुधिर उत्तप्त होने की आशङ्का है जिससे वे अपने विद्या-व्रत को असमय भंग कर देंगे। राजनैतिक आन्दोलनों का ज्ञान, उनके उत्थान और पतन का इतिहास, उनके कारण और

निष्कर्ष, राजनीति के विद्यार्थी कुमारों के ज्ञातव्य विषय हैं पर उनमें कूद पड़ना उचित नहीं ।

शिक्षाप्रणाली को दूषित कहना और बात है, पर उसका सुधारना देश के नेताओं का श्लाघ्य कर्त्तव्य है । एक शिक्षा-प्रणाली को त्याग कर दूसरी का अवलम्बन कराना श्रेय हा-सकता है, पर एक शिक्षाप्रणाली को दूषित कह कर उसके प्रवर्त्तकों तथा अनुयायियों को दण्ड देना अपना उद्देश्य बना-कर शिक्षा को ही सर्वतोभाव त्याग कर किसी आन्दोलन में विद्यार्थियों का प्रवृत्त होना श्लाघ्य नहीं कहाजासकता ।

महाराणा प्रताप ने अकबर से लड़ने के लिये समस्त मेवाड़ ऊजड़ कर दिया था । पर अपने अधीनस्थ देश को ऊजड़ कर देना राजाओं का कर्त्तव्य है ऐसा नहीं कहाजा-सकता । वैद्य किसी रोगी को विशेष दशा में भूखा रहना बतलाता है पर इससे मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य भूखा रहना नहीं होसकता । इसीलिये यदि किसी समयविशेष में कुमारों को किसी आपत्तिनिवारणार्थ सम्भव है कोई महा-पुरुष किसी आन्दोलन की आवश्यकता बतलावे पर उसे कुमारों के कर्त्तव्यों में स्थान नहीं दियाजासकता है क्योंकि कुमारजीवन बड़े संयम और सावधानी का समय है । देश के सच्चे सेवक और विद्वान पुरुषों को देश ही नहीं वरन् समस्त संसार नेता मानने को तैयार होजाता है । डाकृर पी० सी० राय, डाकृर जगदीशचन्द्रबोस, डाकृर गणेशदत्त,

कवि सप्रदा रवीन्द्रनाथ टागोर, महात्मा गांधी, महादेव गोविन्द रानाडे, प्रोफेसर रमन, कलियुगी भीम प्रोसफेर राममूर्ति आदि महापुरुषों के नाम को क्या भारतीय सगर्व स्मरण नहीं करते ।

देश के बल बढ़ाने का एक उत्तम साधन एकता है । कहा है “संघे शक्तिः कलौयुगे” अर्थात् कलियुग में समूह में शक्ति है । एकता के आठ अङ्ग हैं ।

आशा इष्ट उपासना खान पान परिधान ।

भाषा भाव जहां मिलें तहां एकता जान ॥

एकता के लिये एक भाषा का होना परमावश्यक है । प्रत्येक कुमार के हृदय में अपनी मातृभाषा की भक्ति होनी चाहिये । भारतवर्ष की स्वभावज सर्वाधिक प्रयुक्त भाषा नागरी है । यह बात सिद्ध हो चुकी है कि संसार की समस्त भाषा और लिपियों में नागरी सुलभ और उत्तम है अतः इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । हमारा उद्धार हमारी भाषा द्वारा ही हो सकता है । एक विद्वान अंग्रेज़ का कथन है:-

“The people who abandon or who are compelled to abandon their language for that of another lose themselves”

अर्थात्—“जो जातियां अपनी मातृभाषा को त्याग देती हैं अथवा विदेशी भाषा को ग्रहण करने के लिये अपनी भाषा को त्यागने के लिये बाध्य की जाती हैं वे अपने आपको खो

बैठती हैं” । किसी राष्ट्र की उन्नति का उसकी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसका ज्वलन्त उदाहरण जापान है । जापानियों ने दूसरी भाषाओं के साहित्य से लाकर अपनी भाषा का भंडार भर दिया और उसके द्वारा अपने कुमारों को शिक्षित कर अपना भविष्य समुज्ज्वल कर लिया ।

जीवन का आधा भाग तो दूसरी भाषा का ज्ञान सम्पादन करने में ही लगजाता है । जीवन का एक बड़ा भाग ज्ञान के मार्ग की कुंजी के ढूँढ़ने में लगजाता है; कुंजी मिल जाने पर रास्ता चलने और ज्ञान सम्पादन का समय ही नहीं रहता । फिर विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार तो हो ही नहीं सकता । जितना शीघ्र किसी विषय का ज्ञान मातृभाषा द्वारा हो सकता है उतना शीघ्र विदेशी भाषा द्वारा नहीं हो सकता और न विदेशी भाषा द्वारा प्राप्त शिक्षा में उतनी आत्मीयता आसकती है जितनी देशी भाषा द्वारा प्राप्त ज्ञान में ।

कुमारों को स्वदेशाभिमान होना बुरा नहीं है सच्चा अहंकार तो एक तत्त्व है जिसके बिना संसार में कोई रचना ही नहीं हो सकती । ईश्वर भी अहंकार के द्वारा सृष्टिरचना करता है । स्वाभिमान कर्मण्यता का हेतु है । इस प्रकरण में स्वाभिमान के यह अर्थ हैं कि हम पूर्णरूप से हिन्दू हों, हमारी जाति हिन्दू हो हमारी भाषा हिन्दी हमारी सभ्यता, खान पान, परिधान, हिन्दी हो हम भारत के हों भारत हमारा हो यदि उन्नति हो तो वह भी हमारी हो । जिस

दिन यह भाव भर जायगा कि सभी वस्तु हमारी है उस दिन सब पर भारतीय छाप होगी। यदि हमारी सभ्यता और उन्नति हमारी नहीं तो इसका यह मतलब होगा कि हमने अपना अस्तित्व खोदिया हमने दूसरी भाषा सभ्यता और उन्नति के भावों को नहीं अपनाया बल्कि हम ही उसके होगये। सच्चा स्वदेशप्रेम यह है कि हमारी प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कार्य का भाव भारतीय हो, हम भारत के लिये जियें और उसी के लिये मरें। इन भावों से भरे हुए कुमार जिस समय भारत के नागरिक होंगे वह समय देश के लिये स्वर्णयुग होगा। और वही स्वाभाविक देशोन्नति होगी।

वीर कुमारी ! यदि तुम भारतवर्ष को पूर्वावस्था में लाना चाहते हो और अपने पूर्वजों की भांति धार्मिक और यशस्वी बनना चाहते हो तो महर्षि मनुजी के इस वचन को अपना मूलमंत्र बनालो:—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयं ।

संनियम्यतु तान्येव ततः सिद्धिंनियच्छति ॥

अर्थात् “जीवात्मा इन्द्रियों के वश में होकर निश्चय ही बडे २ दोषों को प्राप्त होता है और जब इनको वश में करता है तब सफलता को प्राप्त होता है” ।

विशेष ।



विषमता संसार का गुण है । कहीं प्रकाश है कहीं तम है, कोई ऊँचा है कोई नीचा, कोई उन्नति के शिखर पर है, तो कोई अधोगति के गढ़े में, किसी के घर आनन्द की बंशो बजाई जाती है, तो कोई गृहशोक से विह्वल है । इस विषमता को चाहे ईश्वरीय लीला कहाजाय वा प्रारब्ध का फल, अथवा कर्म-विपाक । यह विषमता संसार के लिये एक आवश्यक वस्तु है । यह उन्नति की पथप्रदर्शक और कर्मण्यता की कुंजी है, इससे कायरों को भर्त्सना और लज्जा, तथा वीरों को प्रोत्साहन मिलता है ।

इस विषमता के प्रमाणस्वरूप हम देखते हैं कि कुछ कुमार जन्म से ही लक्षाधीश और सहस्रशः मनुष्यों के प्रभु और धार्मिक नेता बनजाते हैं । इसको उनका भाग्य कहें चाहे उनके पूर्वजों की कमाई का मीठाफल, पर जनसाधारण से उनमें विशेषता है अतएव उनके कर्त्तव्य भी विशेष हैं । साधारण कुमारों के कर्त्तव्य तो उनके कर्त्तव्य हैं ही पर उसके अतिरिक्त उनके स्थान और विशेषता के उपयुक्त उनके कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं ।

अधिकार और कर्त्तव्य साथ २ चलते हैं । जिसके जितने अधिकार हैं उसके कर्त्तव्य भी उतने ही अधिक हैं । बिना कर्त्तव्यपालन किये अधिकार स्थिर नहीं रह सकते । यदि

एक कुमार अचिरकाल में बहुसंख्यक प्रजा का स्वामी होगा तो उसके कर्त्तव्यों के अन्तर्गत उन प्रजावर्ग का लालन पालन और संतोष प्राप्त करना भी होगा। यदि किसी महन्त के विषय में यह कहाजाय कि उसके इतने अधिक बिना दामों के सेवक हैं तो उन सेवकों को सदुपदेश द्वारा सन्मार्ग पर चलाने का कर्त्तव्य उसी पर है। कहा है कि “दुखी रहत वह जीव मुकुट जां धारे रहत” जो जितना अधिकारों से युक्त है वह उतनी ही अधिक चिन्ता से ग्रसित है।

ऐसे मान्य पुरुषों के चरित्रों का प्रभाव उनके अनुगामी मनुष्यों के ऊपर अवश्य पड़ता है। मनुष्य स्वभाव से अनुकरणशील है। जिसे वह अपने से अधिक मान्य और अधिकारयुक्त समझता है वह उसका अनुकरण करने लगता है। इस अनुकरण का एक कारण आत्मश्लाघा है। अनुकरण से इस श्लाघा की तृप्ति होती है मनुष्य को प्रसन्नता होती है। अधिकृत मनुष्यों की इच्छा अपने स्वामी तथा मान्यों की प्रसन्नता प्राप्त करने की सदा बनी ही रहती है। बस इन अधिकारप्राप्त पुरुषों के चरित्रों का वे अनुकरण करने लगते हैं अतएव इन विशेष अधिकारप्राप्त कुमारों का प्रथम कर्त्तव्य है कि स्वयं चरित्रवान् हों। उनका आचार व्यवहार उदाहरणीय होना चाहिये। कहावत है “यथा राजा तथा प्रजा”।

प्रजावर्ग राजाओं की सन्तान हैं, वह उनके सुख दुःख और यश का हेतु हैं। उनका सन्तोष राजा की चिन्ता को

कम करता है उसके बल को बढ़ाता है और कीर्तिकौमुदी को दिगन्त में प्रकाशित करता है। राजकुमारों का आवश्यकीय कर्त्तव्य है कि प्रजावर्ग की वास्तविक स्थिति से परिचय प्राप्त करें उनके प्रत्येक उचित कार्य में सहानुभूति प्रकट करें और सहायता देने को उद्यत रहें। ऐसा करने से प्रजा राजकुमार को अपना नेता स्वयं बना लेगी। प्रजा को अपने ऐसे राजकुमार से किसी बात के छिपाने की आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने दुःख की कथा उसके सामने प्रकृतिरूप से रखेगी और कोई कार्य बिना उसकी सम्मति के नहीं करेगी। कुमार रामचन्द्रजी के विषय में उनकी प्रजा के भावों को देखिये:—

को रघुवीर सरिस संसारा । शील सनेह निबाहनहारा ॥

जेहि २ योनि कर्मवश भ्रमहीं । तहँ २ ईश देय यह हमहीं ॥

हम सेवक स्वामी सियनाहू । होय नात यह ओर निवाहू ॥

इन सबका कारण राम की प्रजावत्सलता था—राम कहते हैं।

स्नेहं दयांच सौख्यंच यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

अर्थात्—“प्रजा को प्रसन्न करने के लिये मुझे स्नेह, दया और सुख अथवा अपने जीवनसुख को मूल जानकी को भी छोड़ने में व्यथा न होगी”। प्रजावत्सलता का कितना कठिन और उच्च आदर्श भारतीय राजकुमारों के सामने उपस्थित है। बनगर्भन के समय राजकुमार राम कहते हैं:—

भवन भरत रिपुसूदन नाहीं । राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं ।
 रहहु करहु सब कर परितोषू । नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥
 जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृप अवशि नरक अधिकारी ॥

प्रजा की प्रसन्नता प्राप्त करने का सर्वोत्तम प्रकार उनको राजकार्य में सहायक और सहभागी बना लेना है। इससे दो लाभ हैं पहला उनका सन्तोष है दूसरा यह कि अपनी अवस्था को उनसे अच्छा कोई नहीं जानता अतः उस आवश्यकता की पूर्ति भी वे अपनी इच्छानुसार कर सकेंगे; इसके अतिरिक्त उस पूर्ति की कठिनाइयों को न समझ कर जो व्यर्थका दोषारोपण राजा पर किया जाता है उससे वह बचजायगा क्योंकि प्रजा उन कठिनाइयों को अपनी आंखों से देख कार्य की सम्भावना और असम्भावना का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेगी, यदि दुर्भाग्यवश किसी कार्य में असफलता हुई तो राजा का उत्तरदायित्व न होकर प्रजा स्वयं उसकी उत्तरदायिनी होगी और असफलता का असंतोष भी न होगा क्योंकि चलते हुए बालक को गिरा देने से जितना रोता है उसका आधा अपने आप गिरने से नहीं रोता।

अधिकारों की रक्षा अधिकारों का बलिदान करने से होती है। सब अधिकार अपने ही हाथ में रखने वाले राजाओं के सभी अधिकार नष्ट होते हुए देखे गये हैं। अतएव प्रजावत्सल होने के लिये राजकुमारों को अधिकारों के बलिदान का पाठ सीख रखना चाहिये और प्रजा के साथ मिलकर

कार्य करने का क्रम भी अध्ययन करना चाहिये । राजकुमारों के प्रधान गुणों में गम्भीरता, सहनशीलता और शालीनता प्रथमोद्देख्य हैं । ये गुण उनकी उन्नति और प्रजा की प्रसन्नता का आधार हैं ।

राज्य की संस्था भारतवर्ष में अति प्राचीन है इसका उत्तम उल्लेख वेद में मिलता है । जहां पर लोकतन्त्र शासन (Democratic Government) को आदर्श राज्य ठहराया गया है ।

तं सभा च समितिश्च सेना च ।

अथर्व० कां० १५ अनु० २ व० ६ मं० २

सभ्यसभां मे पाहि ये च

सभ्याः सभासदः ॥ २ ॥

अथर्व० कां० ६ अनु० ७ व० ५५ मं० ६

अर्थात्—उस राजधर्म को तानों (विद्यासभा, धर्मसभा, राजसभा) सभाएँ मिलकर पालन करें ॥ १ ॥ राजा को योग्य है कि सब सभामदों को आज्ञा देवे कि हे सभा के योग्य मुख्य सभासद तुम मेरी सभाकी धर्मयुक्त व्यवस्थाकी रक्षा करो । इसका भावार्थ यह है कि एक को स्वतन्त्रराज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा,

सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और राजा और सभा के आधीन प्रजा रहे। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे गम्भीर विषय की वैज्ञानिक विवेचना का होना असम्भव है, यहां पर केवल कतिपय मुख्य शिक्षाएं जो राजकुमारों के लिये ज्ञातव्य और कर्त्तव्य हैं लिखी जाती हैं।

राज्यप्रबन्ध के दो मुख्य विभाग हैं एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। प्रत्येक राष्ट्र का सम्बन्ध अन्य राष्ट्रों से अनेक प्रकार से होता है कुछ तो सीमा पर ही लगे रहते हैं, जिनसे मित्रता का सम्बन्ध स्थापित रखना अपने राज्य की रक्षा का मुख्य साधन है। अन्य राष्ट्रों से अपने देश की सम्पत्तिवृद्धि के लिये सम्बन्ध रखना पड़ता है। ऐसे बहुत कम स्थान हैं जहां सब प्रकार की सुविधाएं उपस्थित हों। एक राज्य की विशेष सुविधाओं से दूसरे भी लाभ उठा सकें इसलिये उनमें व्यापारिक तथा राजनैतिक मैत्री की आवश्यकता होती है। राजकुमारों का कर्त्तव्य है कि वे अपने राज्य और अन्य राज्यों के प्राचीन सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करें। उनको संसारके राष्ट्रों की साम्प्रतिकसुविधाओं का ज्ञान होना अपने राष्ट्र की उन्नति के लिये आवश्यक है।

अन्य राष्ट्रों से प्राचीन सम्बन्ध को स्थिर रखने तथा नई मैत्री स्थापन करने के लिये राजकुमारों को उचित है कि देश देशान्तरों का पर्यटन करें इससे उनके ज्ञान की वृद्धि

होगी। संसारपर्यटन और निरीक्षण द्वारा उन्नत राष्ट्रों की उत्तम प्रबन्धशैली को सीखने का अवसर सहज ही में प्राप्त होगा, जिससे वे अपने राज्य के आन्तरिक प्रबन्ध में भी उन्नति कर सकेंगे। लोगों के इस कहने की कि “महाराज बात २ में नफ़ल कर रहे हैं” पर्वाह न करते हुए पुरानी अनिष्ट चालढाल का त्याग और आवश्यक और इष्ट नवीन प्रणाली का प्रचार करने में उत्साहियों का अग्रगन्ता और नेता होने का गौरव लाभ करना राजोचित कर्त्तव्य है। परन्तु संसार-पर्यटन के लिये राज कुमारों को इसी भांति जाना चाहिये जिस प्रकार विद्यार्थी गुरु के पास विद्याग्रहण करने के लिये जाते हैं। केवल विषयवासना की तृप्ति और मौज उड़ाने के लिये प्रजा का धन सैर सपाटे में फूँकना भयंकर अपव्यय और महान अनर्थ है।

यहां कुछ नियम उन राजकुमारों के लिये लिखे जाते हैं जिन्हें कुमारावस्था उल्लंघन कर राजकार्य में नियुक्त होकर राजप्रबन्ध का संचालक बनना होगा। राजकाज का प्रबन्ध प्राप्त होने पर सबसे प्रथम अमात्यवर्ग और प्रधानकर्मचारियों के स्वभाव और गुण दोषों का ज्ञान प्राप्त करना शासक का कर्त्तव्य होता है।

१—शासक को मनुष्य परीक्षा के लिये कुछ कसौटियों से काम लेना चाहिये; पहिली कसौटी यह है कि कार्यकर्त्ताओं में ऐसा कौन पुरुष है जो अपनी ज़िम्मेदारी के काम को दत्त

चित्त होकर पूर्ण किया करता है और उसके पश्चात् शासक को सहायता देने का उत्साह करता है और कौन ऐसा है जो अपनी ज़िम्मेदारी के कामों से उदासीन रहता है परन्तु अन्य बड़े २ कार्योंमें योग देनेका विशेष उत्साह दिखलाता है, इस प्रकार के मनुष्यों में पहिला श्रेष्ठ और दूसरा निकृष्ट हैं।

२ शिष्टाचार की सीमा को उल्लङ्घन करके अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करना चापलूसी कहलाता है और मितभाषण के स्थान में बहुप्रलाप करना व्यर्थ बाद होता है। दूसरों के गुणों में दोष निकालना, पैशुन्य (चुगली) विषयकथा और अप्रासङ्गिक प्रस्ताव यह सब राजदरबारियों के दुर्गुण राजा को विषवत् हानिकारक हैं।

सन्निव वैद्य गुरु तीन जहं, प्रिय बोलत करि त्रास ।

राजधर्म तन को तहां, होत वेग ही नास ॥

३—आवश्यक शिष्टाचार, प्रासङ्गिक प्रस्तुत विचारों पर वाक्पटुतापूर्वक सम्मतिप्रदान, आत्मश्लाघारहित मितभाषण, यथार्थ इष्ट मन्तव्य का बलपूर्वक समर्थन, निस्स्वार्थ और विनीत भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करना, सदाचार और सहिष्णुतापूर्ण चरित्रसंगठन आदि उत्तमगुणयुक्त व्यक्ति राज दरबार की शोभा और राजप्रबन्ध के उचित साधन हैं।

४—राजा को अपनी प्रजा की वाही और आभ्यन्तरिक दशा तथा लोकमत जानने की सदैव आवश्यकता होती है जिसके लिये प्रकट और गुप्तरूप से कभी २ स्वयं जाकर

देखना, समाचारपत्र पढ़ना तथा धार्मिक विद्वान और विश्वासी गुप्त और प्रकटचरों को नियत करना चाहिये ।

५—राजा स्वयं राजव्यवस्था का पालक, राजकोषका सम्यक् निरीक्षक, परिवार का यथायोग्य पालक, प्रजावर्ग का पूर्णहितैषी, कर्मचारियों का सुपरीक्षक, धर्मार्त्ता परोपकारियों का उत्साहवर्द्धक और पूर्णसहायक, निर्बल और असहायों का यथोचित रक्षक, अमात्यवर्ग की अपेक्षा अधिक विज्ञ और नीतिनिपुण, उपद्रवियों, कुचक्रियों, महासाहसियों, तरुकरों, दुर्वृत्तियों, दुर्नीतों और दुराचारियों का दमनक, प्रतिभासम्पन्न और आविष्कारिणी प्रजावर्ग के व्यक्तियों के प्रति पूर्णउदार, किन्तु मितव्ययी, धीर, बोर और यथायोग्य समदर्शी होकर ही सुशासक और चिरराज्यभागी होसकता है । इन सब गुणों का बीज राजकुमारों को कुमारवस्था ही में अपने विशुद्ध हृदयक्षेत्र में बपन करना आवश्यक है ।

६—राजा प्रजारूपी शरीर का आत्मा होता है अतः उसे धर्मपूर्वक प्रजा का शासन और पुत्रवत् पालन करना चाहिये । परन्तु सदा लालन से ही काम नहीं चलता है आवश्यकता पड़ने पर उनके हितार्थ विचार पूर्वक ताड़न भी करना पड़ता है राजप्रबन्ध की शब्दावली में इसको दण्ड कहेंगे जो शान्ति स्थापन का एक बड़ा साधन है ।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डेवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्वुधाः ॥

अर्थात्—“दण्ड ही प्रजा का शासक, रक्षक तथा सोते हुआ मैं जागनेवाला है इसलिये बुद्धिमान लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं” । परन्तु याद रहे कि:—

समीक्ष्य सधृतः सम्यक् सर्वारञ्जयति प्रजाः ।

असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो बिना विचारे चलाया जाय तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ।

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादस्त्रियो मदः ।

तौर्यत्रिकं वृथात्याच कामजो दशको गणः ॥ १ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्य दूषणम् ।

वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्ठकः ॥ २ ॥ मनु०

अर्थात्—शिकार खेलना, जुवा चौपड़ आदि, दिन में सोना, मिथ्यापवाद, स्त्रियों के साथ अधिक निवास वा मोहित होना, नशे का सेवन, गाना, बजाना, नाचना व इनका देखना और इधर उधर व्यर्थ घूमना ये दश दुर्गुण काम से उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥ चुगली खाना बिना विचारे काम कर बैठना, व्यर्थ घेर बांधना, दूसरे की स्तुति सुन जलना, दूसरे के गुणों में दोष और दोषों में गुण स्थापन करना, • बुरे कामों में धन का लगाना, क्रूरवाणी और बिना विचारे पक्षपात से किसी को दण्ड देना ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं । इन अठारह

प्रकार के दुर्गुणों और इनके मूल लोभ को राजकुमार अवश्य छोड़ दें ।

उपसंहार ।

अन्त में कुमारों से निवेदन है कि सदैव अपने जीवनवृक्ष के मूल को दुराचाररूपी कुल्हाड़ी से बचाकर सदाचारामृत-वारि से सिञ्चन करते रहें जिससे वह धर्मार्थ, काम, मोक्ष-रूपी फलों को प्राप्त होकर न केवल भारतवर्ष ही के लिये प्रत्युत समस्त संसार को सुख और शान्ति धाम बनाने वाला हो ।

परमात्मन् हमारे देशीयकुमारों को श्रद्धा, भक्ति, विवेक, उत्साह और बल प्रदान करो जिससे वे पूर्व ऋषियों की भांति सर्व श्रेष्ठ गुणसम्पन्न होकर मनुष्यजीवन का उपरोक्त फल सुचारुरूपेण प्राप्त कर सकें । जगदीश ! हमारे कुमारों की दृष्टि भारत के पूर्व ऋषियों के उच्चभावों की ओर आकर्षित करो जिससे वे प्राचीन जगन्मान्य सभ्यता के अभिमानी रहकर अमरीका, इङ्ग्लैंड, जापान और अन्यान्य देशों की आवश्यक शिक्षा को ग्रहण करके भी विचलित न हों किन्तु मधुमक्षिकावत् सबका सार ग्रहण करके अपने जीवन को सर्वप्रिय सुमधुर बनाकर पुस्तकरचयिता के मनोरथ को सफल करें ।

॥ इत्याशास्महे ॥

सुमनचयन ।

अरोग्यता के नियम ।

- १—स्वास्थ्यलाभ के लिये मनको बुरे विचारों से बचाओ ।
- २—सदा प्रसन्नचित्त रहो, निराशा और चिन्ता को रोग की अग्रिम दूतिकाएं समझो ।
- ३—शरीर से स्पर्श करनेवाली तथा सेवन कीजानेवाली वस्तुएं शुद्ध पवित्र होना चाहिये । तथा शरीर को सदा हर प्रकार की गन्दगी से बचाए रहना चाहिये ।
- ४—मल, मूत्र, भूख, प्यास, नीद आदि शरीर के वेगों को कभी न रोको ।
- ५—शुद्ध वायु, शुद्ध जल, पवित्र भूमि, विपुलप्रकाश और स्वच्छ आकाश प्रकृति की पांच औपधियां हैं । इन्हीं को स्वास्थ्यसुधार के उत्तम साधन समझो, वैद्यों की वट्टिकाओं और डाक्टरों के डोज़ों से शरीर को औपधालय बनाना अच्छा नहीं है ।
- ६—रोगी होकर औपधि द्वारा स्वास्थ्यलाभ करने की अपेक्षा रोग से बचे रहना श्रेयस्कर है ।
भोजन ।
- ७—अजीर्ण अनेक रोगों की मूल है जो भोजन की अनियमता, ईर्ष्या, चिन्ता, भय, क्रोध, शोकादि से होता है ।

८—भोजन स्वादिष्ट, सुखपाक, पुष्टिकारक और ताज़ी होना चाहिये । गुरुपाक और बासी भोजन आरोग्यतानाशक और तमोगुणी होता है ।

९—भोजन देखने व सूंघने में भी प्रिय होना चाहिये । जिस भोजन को देखने और सूंघने से घृणा उत्पन्न हो वह कदापि न खाना चाहिये क्योंकि ऐसी दशा में आमाशयिकरस भली प्रकार नहीं बनता ।

१०—भोजन के ठीक पहिले या पीछे कोई शारीरिक या मानसिक परिश्रम न करना चाहिये, भागना, कूदना, तेज चलना या मनलगाकर पढ़ना भोजन के उत्तम और शीघ्र पाकमें बाधा डालते हैं । परन्तु भोजन करके फ़ौरन सोजाना भी हानिकारक है ।

११—भोजन को शुद्ध होकर, पवित्र तथा प्रकाशमय स्थान में, शुद्ध पात्रों में करना चाहिये ।

१२—राह चलते, खड़े खड़े, लेटे हुए, भोजन करना सर्वथा अनुचित है, भोजन को सुखासन से बैठकर करो ।

१३—न बहुत गरम और न बहुत ठंडा भोजन करो । अधिक उष्ण और अति शीत भोजन से दातों और आतों को हानि पहुंचती है ।

१४—भोजन को यथाशक्ति नियमित समय पर और उचित परिमाण में करना चाहिये ।

१५—आयुर्वेद का मत है कि भोजन में प्रथम मिठाई, फिर अलौना तत्पश्चात् लवण और अन्त में खटाई खाना चाहिये । खटाई पहिले खाने से लालाग्रन्थियों के श्वेतसार से यवौज (जव की शकर) बनानेवाले कार्य में बाधा पड़ती है ।

१६—भोजन को खूब चबा २ कर धीरे २ करना चाहिये । भोजन में शीघ्रता करने से आमाशय को बड़ा कष्ट होता है और दातों का काम आतों को करना पड़ता है ।

१७—भोजन के पश्चात् कुल्ली अवश्य करनी चाहिये । ऐसा न करने से मुख में दुर्गन्धि आने लगती है और दातों की जड़ें निर्बल हो जाती हैं ।

. पान ।

१८—पीने का पानी स्वच्छ, निर्गन्ध, स्वादिष्ट और बहता हुआ होना चाहिये । इस प्रकार का ताज़ा पानी सब ऋतुओं में सुखकर है ।

१९—ऋतु और काल का ध्यान रख कर पानी अच्छी मात्रा में पीना चाहिये । अकारण पानी कम पीना और प्यास रोकना प्राणों को हानिकारक है ।

२०—पानी पीने की क्रिया चूसने के समान ऊपर के दातों को जीभ के पास लगाकर होना उत्तम है, घटक २ और हुचुक २ का शब्द करते हुए पानी पीना असभ्यता का लक्षण है ।

२१—पानी थोड़ा २ पीना चाहिये एकदम सेर डेढ़ सेर पीना जाना अच्छा नहीं ।

२२—प्रातः सूर्योदय से पूर्व वासी पानी पीना (जो ताम्रपात्र में रक्खा हो तो और भी उत्तम है) बहुगुणकारी है ।

२३—ऊँघते हुए, सोकर उठे हुए, परिश्रम से थके हुए, धूप से आये हुए, मल मूत्र त्याग कर तुरन्त जल न पीना चाहिये ।

स्नान ।

२४—प्रत्येक दिन कम से कम एकबार स्नान अवश्य करना चाहिये ।

२५—सदा स्वच्छ ताज़े पानी से स्नान करना उत्तम है । वर्षा ऋतु को छोड़ नदी तथा तालाब का स्नान विशेष लाभदायक है ।

२६—तैरने की कला प्रत्येक कुमार को सीख लेना चाहिये । तैरने से शरीर के प्रत्येक अवयव की पुष्टि होती है और फेफड़े बलवान होते हैं ।

२७—नहाने के दो घंटे के भीतर भोजन नहीं करना चाहिये और भोजन करके चार घंटे तक स्नान न करना चाहिये । ऐसा करने से पाचनक्रिया में बाधा पड़ती है ।

२८—स्नान एकान्त और प्रकाशमय स्थान में विद्यमान या न्यूनातिन्यून वस्त्र पहिने हुए करना चाहिये ।

२६—स्नान विपुल जल से खूब मसल मसल कर करना चाहिये, तौलियादि से शरीर को घर्षण करते हुए स्नान करने में विशेष लाभ है ।

३०—स्नान में सर्व प्रथम सिर को भली प्रकार धोडाले तत्पश्चात् शरीर के अन्य अंगों पर जल डाले ।

३१—रोगग्रस्त, यात्रा से आकर, परिश्रम करके, व्यायाम के कारण हांफते हुए या पसीने से लथपथ स्नान करना हानिकारक है ।

३२—स्नान करके तौलिया आदि मोटे और खुरदरे वस्त्र से शरीर को पोंछ डालना चाहिये ।

३३—वीर्यपात होने के बाद तुरन्त स्नान करना लाभदायक है ।

शयन ।

३४—रात्रि में जल्दी सोना और जल्दी जागने का सिद्धान्त विद्वानों का सम्मत है । रात्रि के ६ बजे सोकर प्रातःकाल ४ बजे उठबैठना मनुष्य को दीर्घायु विद्वान् और लक्ष्मीवान् बनाता है ।

३५—दिन को यथाशक्ति कभी न सोना चाहिये ।

३६—कुमारों को सदा अकेला सोना चाहिये ।

३७—शयन स्थान प्रकाशमय और हवादार और दुर्गन्धिरहित होना चाहिये ।

३८—ओढ़ने के कपड़े हलके और बिछाने के कड़े और सादे तथा स्वच्छ होने चाहिये ।

३६—सोते समय शरीर पर न्यूनातिन्यून वस्त्र रखना चाहिये ।

४०—मुंह ढांक कर तथा दीपक आदि को जलता छोड़कर कभी न सोना चाहिये । किसी २ को मुंह नीचे करके सोने की आदत पड़जाती है इस प्रकार सोना स्वास्थ्य को हानिकारक है ।

४१—निद्रा के पहिले मलमूत्र त्याग स्वस्थ चित्त होकर सोना चाहिये ।

४२—जब तक भली प्रकार निद्रा न आवे व्यर्थ बिछौने पर न लेटना चाहिये । थोड़ी सी दौड़ लगाने तथा ईश्वर का भजन करने से निद्रा शीघ्र आजाती है ।

४३—रात्रि का भोजन हल्का होनेसे निद्रा ठीक आती है, रात्रि के भोजन और निद्रा में २ घंटे का अन्तर होना चाहिये ।

४४—घुटने तक पैर, तथा कर और सिर को ठंडे जल से धोकर सोने से स्वप्नदोष नहीं होता ।

४५—सोने से पहिले अंडकोष खूब ठंडे जल से कुछ देर तर करने तथा मणि पर शीतल जल की धार छोड़ने से स्वप्नदोष को बहुत लाभ पहुंचता है ।

४६—कुमारों को ७ घंटे से अधिक न सोना चाहिये प्रातः-काल आंख खुलजाने पर पड़े न रहना चाहिये । निद्रा टूटने पर बिछौने से एकदम बाहर होजाना चाहिये ।

व्यायाम ।

४८—व्यायाम शुद्ध, प्रकाशमय और हवादार स्थान में करना चाहिये । व्यायाम करनेका स्थान संकुचित न होना चाहिये ।

- ४६—व्यायाम की किसी भी पद्धति का अनुसरण किया जाय पर उस प्रणाली का उचित ज्ञान प्राप्त करके व्यायाम अच्छे ढंग से करना चाहिये ।
- ५०—व्यायाम दो बार और उचितमात्रा में करना चाहिये । कुमारों को अत्यधिक व्यायाम उचित नहीं । माथे और बगलों में पसीना आने पर व्यायाम बन्द कर देना चाहिये ।
- ५१—पेट भरे हुए तथा भूखे व्यायाम न करना चाहिये, धूप में चलकर, थके हुए तथा चिन्तित अवस्था में व्यायाम से लाभ नहीं होता तथा रोगी, अतिकृश और विह्वल-मनको व्यायाम करना हानिकारक है ।
- ५२—व्यायाम से आयेहुए पसीने को तुरन्त पोंछ डालना चाहिये और व्यायाम करके फौरन लघुशंका करना लाभदायक है ।
- ५३—सप्ताह में एक दिन व्यायाम न करके तैल की मालिश करना विशेष लाभदायक है ।
- ५४—प्रोफ़ेसर राममूर्ति व्यायाम के लिये नीचे लिखे नियम बतलाते हैं:—
- (अ) व्यायाम का अभ्यास क्रमशः करना चाहिये, एक-दम बढ़ा देना उचित नहीं ।
- (ब) जो व्यायाम किया जाय धीरे २ अंगों पर पूरा जोर देकर किया जाय ।

(स) व्यायाम प्रणायाम के साथ करो अर्थात् श्वास मुँह से न लेकर नाक से लो और पूरक, कुंभक और रेचक करते हुए करो ।

(द) व्यायाम करते समय मन को स्थिर रखना चाहिये और प्रत्येक अंग पर व्यायाम के लाभ का चिन्तन करते हुए करो ।

(य) व्यायाम कर चुकने पर धीरे २ टहलना चाहिये ।

५५—व्यायाम करने पर जो खुशकी या गर्मी बढ़ जाती है उसके निवारणार्थ उक्त प्रोफ़ेसर साहब निम्नलिखित योग बतलाते हैं ।

१० बादाम, २० काली मिर्च, दो छोटी इलायची, ३ माशे सौंफ, ३ माशे धनियाँ इन सबको छटांक भर पानी में रात को किसी पत्थर या मृत्तिका के पात्र में भिगो रखे, प्रातःकाल बादाम का छिलका निकाल कर सबको घोट उचिन खांड़, जल मिलाकर सेवन करें । क्रमशः इन पदार्थों की मात्रा बढ़ा भी सकते हैं ।

५६—मेरे बिचार में १६ से न्यून आयु वाले बालकों को सामान्य दौड़धूपादि और इससे अधिक आयु वालों को प्रोफ़ेसर राममूर्ति के ढंग की कसरत करनी चाहिये ।

५७—व्यायाम करते समय सामने बड़ा शोशा रख कर उसमें व्यायामित अंगों को ध्यानपूर्वक देखते हुए व्यायाम करने से शरीर सुन्दर और सुडौल होजाता है ।

व्यावहारिक सभ्यता के नियम

- १—ईश्वरचिन्तन एकान्त में करना चाहिये । सर्वसाधारण के आने जाने के स्थान पर ईश्वरचिन्तन करनेवाले वकध्यानी कहलाते हैं ।
- २—धार्मिक कृत्यों को आस्थासहित और यथाविधि करने का ध्यान रखो । उस समय आंखें मटकाना वार्त्तालाप करना उचित नहीं ।
- ३—दूसरे के धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप करना तथा अनादर दिखाना सभ्यता के विरुद्ध है ।
- ४—यदि किसी के धार्मिकविश्वास से आप सहमत नहीं हैं तो भी उसकी हँसी उड़ाना उचित नहीं ।
- ५—सूने मन्दिरों, मस्जिदों, प्रतिमाओं तथा कबरोंसे घृणित व्यवहार न करो । उनके ऊपर थूकना, पेशाब करना नीचता है ।
- ६—मातापिता तथा गुरुवर्ग के आगे सदा नम्रतापूर्वक बर्ताव करो उनके सामने ऐसा कोई कार्य न करो जिससे उनका अनादर होवे । उनके समीप सदा शान्त और गम्भीर-भाव पूर्वक बातचीत करो और उनकी आज्ञा को ध्यान से सुनो ।
- ७—अपने से वयोवृद्ध तथा अन्य प्रकारं पूज्य पुरुष के अपने यहां आने पर आगे बढ़ कर स्वागत करो और अपने से उच्च आसन पर बिठाओ ।

- ८—अपने पूज्य और मान्यपुरुषों के खड़े रहने पर स्वयं बैठे रहना असभ्यता है ।
- ९—अपने सहपाठियों से भी असभ्यता का वर्ताव न होना चाहिये । उनके साथ सदा सहानुभूतिसूचक व्यवहार करो ।
- १०—अपने को सहवर्गियों से बढ़कर सिद्ध करने की चेष्टा न करना चाहिये और न किसी सहपाठी या सहवर्गी को घृणारूपद समझो । यदि किसी कारण अपने किसी सहवर्गी को आप अच्छा नहीं समझते तो उस पर तथा अन्य पर इस विचार को प्रकट करना सभ्यता और चतुरता के विरुद्ध है ।
- ११—दिल्लगी में भी गन्दे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये । मज़ाक का विषय गहरा और अलंकारिक होना चाहिये ।
- १२—माता, भगिनी तथा अन्य ऐसी ही पूर्ण पवित्र सम्बन्ध वाली स्त्री तथा अपनी भार्या को छोड़ अन्य किसी स्त्री से एकान्त में वार्तालाप न करना चाहिये ।
- १३—यदि कहीं स्त्रियां बैठी हों तो कुछ ऐसा शब्द करके जाना चाहिये जिससे उन्हें तुम्हारा आना मालूम होजाय ।
- १४—स्त्रियों से बातचीत करते समय उनके मुंह की ओर न ताक कर नीचे दृष्टि करके बातचीत करना चाहिये । आवश्यकता होने पर एकबार ऊपर देख कर फिर नीचे निगाह कर लेना चाहिये ।

- १५—जहां स्त्रियां हों उस स्थान के समीप गाना, बजाना, चुटकी देना, खांसना, अकारण ही वहां घूमना तथा बातचीत करने की चेष्टा करना बड़ी असभ्यता है ।
- १६—स्त्रियों को स्नान करते, कपड़े पहिनते हुए ताकना दुष्चरित्रता का चिन्ह है ।
- १७—स्त्रियों के साथ लड़ना तथा वादविवाद करना पुरुषों को शोभा नहीं देता ।
- १८—नीच संगतिसे सदा दूर रहो, नशेवाज़, व्यभिचारियों से आवश्यकता पड़ने पर भी पहिले तो बातचीत करना टाल दो, यदि ऐसा न कर सको तो थोड़ी बात करके टाल दो ।
- १९—कुमारों को स्त्रियों में न बैठना चाहिये । इससे स्वभाव में स्त्रैणता आजाने का भय है ।
- २०—भारतीय सभ्यता बालकों को बालिकाओं के साथ खेलने का निषेध करती है ।
- २१—किसी से शोघ्र ही अति घनिष्टता उत्पन्न करना अच्छा नहीं और फिर एकवार मित्र बनाकर उससे साधारण-सी बातों पर रूठना और मित्रता तोड़ना सभ्य व्यवहार नहीं है ।
- २२—सभा में कभी ऐसे स्थान पर न बैठे जहां से कोई उठा दे और न बहुत नीचे स्थान पर खड़ा होवे । अपनी उम्र और पदके अनुसार स्थान पर बैठना उचित है ।

- २३—सभा में बैठकर उसके नियम का पालन करो । सभा की कार्यवाही में असुविधा न डालो । सभा में किसी के व्याख्यान देते हुए बातचीत न करो । बाजा बजाना, सींठी देना, शोरगुल मचाना असभ्यता है ।
- २४—यदि सभा में बोलने की इच्छा हो तो सभापति की आज्ञा से बोलो । सभापति के बिना सम्बोधन किये कुछ भी कहने लगना गँवारपन है ।
- २५—अपने प्रत्येक व्यवहार में दूसरे की सुविधा, मान मर्यादा और भाव का ध्यान रखना व्यवहारकौशल की कुंजी है ।
- २६—अपनी चाल, ढाल और व्यवहार में बांकापन लाने का कभी प्रयत्न न करना चाहिये ।
- २७—मुंह से कभी अशुभसूचक, घृणोत्पादक और अनादर अथवा उपेक्षाव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग न करना चाहिये ।
- २८—जिन शब्दों का शुद्धउच्चारण तथा प्रयोग ज्ञात न हो उन्हें व्यवहार न करना चाहिये ।
- २९—शरीर तथा वस्त्रों की स्वच्छता सभ्यता के अन्तर्गत है पर प्रत्येक क्षण अपनी नाक कान की देखते रहना और वस्त्रोंको झाड़ना टिगरापन है, सभ्यता नहीं ।
- ३०—इस बात का सदा ध्यान रखो कि प्रत्येक छोटे से छोटा कार्य एक बड़ी आदत का बीज हो सकता है इस लिये भूल कर भी छोटा काम न करो ।
-

स्वप्नदोष ।

लक्षणा ।

निद्राकाल में वीर्य के विरेचन को स्वप्नदोष कहते हैं । आजकल प्रतिशत एक पुरुष भी ऐसा मिलना कठिन है जो स्वप्नदोष वा स्वप्नप्रमेह का शिकार न बना हो । यह रोगविशेषतः नवयुवकों में पाया जाता है । कामविषयक विचार जब मस्तिष्क में पैदा होते हैं तो मस्तिष्क के इस केन्द्र में क्षोभ उत्पन्न होकर सुषुम्ना से कटि में होता हुआ नाड़ियों द्वारा शिश्न में पहुँचता है अथवा शिश्न, अष्ट्रीला ग्रन्थि आदि में से क्षोभ उठकर मस्तिष्क में जाता और वहाँ से प्रतिक्षिप्त होकर फिर शिश्न में आता है । इस उत्तेजना के पहुँचने से शिश्न के स्पंजाकार पदार्थ में रक्त बढ़ता है जो उसको फौला कर आकार में बढ़ा देता है, शिश्नपेशियां उत्तेजित होकर संकुचित होजाती हैं जिससे रक्त वाहिनियां पीछे से दब जाती हैं और रक्त के पीछे न लौटकर वहीं बंद होजाने से शिश्नहर्ष बना रहता है, मांस पेशियों के संकोच का प्रभाव जब शुक्राशय, शुक्रवाहिनी और अष्ट्रीला आदि पर पड़ता है तो शुक्राशय संकुचित होकर वीर्य को बाहर फेंक देता है । लिङ्गहर्ष के पीछे वीर्यश्राव होने का यही कारण है ।

योरुप के वर्त्तमान अन्वेषकों ने हज़ारों पुरुषों में अन्वेषण कर निश्चित किया है कि कभी २ शुक्राशय में सञ्चित शुक्र का स्वप्न में क्षय होजाना स्वाभाविक है, कुछ वैज्ञानिकों के

मत में बलवान पुरुष के लिये महीने में एक वा दोबार स्वप्न दोष होजाना विशेष हानिकारक नहीं है परन्तु जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शारीरिक और मानसिक निर्बलता का कारण होगा अतएव नियमित आहार विहार और शुद्ध विचारों से जितनी भी संख्या कम कीजासके अच्छा है ।

गाढ़निद्रा में स्वप्नदोष नहीं होता है किन्तु निद्रा के आरम्भ वा अन्त में जिस समय निद्रा पूर्णावस्था में नहीं होती तब जो विचार मनमें होते हैं वा जिन विचारों को ओर निद्रा से पूर्व विशेषतया प्रवृत्ति होती है वैसे ही अथवा कुछ २ बदल कर दिखाई देते हैं । जां लोग जाग्रत अवस्था में ऐसे कार्य करते हैं जिनसे मन दूषित हो कामोद्दीपन होता है वे स्वप्न में उपस्थ पर इस प्रकार प्रभाव डालते हैं कि वह तेजी में आकर अथवा वैसे ही वीर्यकोष में से वीर्य को आकर्षण कर द्रवित कर देता है । कोई विद्वान इसकी शुक्रमेह मानते हैं और किन्हीं २ के मतानुसार यह वातप्रधानप्रमेहों के अन्तर्गत है परन्तु यह वातप्रमेहों की भांति असाध्य नहीं है किन्तु उत्तम औषधि, सुपथ्यसेवन और मनःसंयम से साध्य है । आयुर्वेद में शुक्रमेह के लक्षण इस प्रकार वर्णित हैं:—

मलसूत्रादिवेगेन तथा कामस्य वेगतः ।

स्त्री स्पृष्टि दृष्टि स्मरणादपिरेतः पतेत्तथा ॥

निद्रायां रमणीसङ्गानुभवात्संपतेदपि ।

रोगेऽतिप्रबले शिशने शिथिलेऽपि च तत्पतेत् ॥

तन्द्रावेशेयशयने तत्पतेदतएव च ।

अर्थात्—“शुक्रमेही का वीर्य मल मूत्र तथा काम के वेग से अथवा किसी सुन्दरी स्त्री को स्पर्श करने, देखने या स्मरण करने से ही पतित होजाता है निद्रा या तन्द्रा की अवस्था में स्त्रीसंग का अनुभव करने से वीर्यपात होजाता है” ।

कारण ।

स्वप्नदोष का प्रधानकारण ब्रह्मचर्यनाश अर्थात् आठ प्रकार के मैथुनों में से किसी में प्रवृत्त होजाना, मानसिक कुकल्पनाएं तथा प्रकृतिविरुद्ध मैथुन (हस्त मैथुन गुदा मैथुन पशु मैथुनादि) हैं । आयुर्वेदविज्ञान में लिखा है:—

योनात्मवानविधिना कुरुते रेतसो व्ययम् ।

शुक्रमेहाभिधस्तस्य गदो भवति दारुणः ॥

अर्थात्—“जो मूढ़ पुरुष विधि रहित अर्थात् अति स्त्री-प्रसङ्ग, अयोनिगमन वा हस्तमैथुनादि द्वारा अपने वीर्य को निकालता है उसको दारुण शुक्रमेह से पीड़ित होना पड़ता है” । दुराचार से जब वीर्यपात किया जाता है तो वीर्य को रोकनेवाली शिराएँ ढीली पड़ जाती हैं, नसों में वायु भर जाती है और थोड़े से मनोविकार से वीर्यपात होजाता है ।

परन्तु पाश्चात्य—आयुर्वेदज्ञ वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ नहीं मानते उनका विचार है कि वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न होता है और मनोविकार होने पर अण्डकोश अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं यही वीर्य है । परन्तु वीर्यनाश

से शरीर को हानि पहुँचती है और अप्राकृतिक मैथुन स्वप्नदोष का प्रधानकारण है इस विषय में दोनों एक मत हैं ।

कामोद्दीपक विचारों से यदि मनुष्य मन को नहीं रोकता तो वह कुछ मिनटों में अगली दशा में परिवर्तित होजाता है जिससे अण्ड और शिशन में अधिक मात्रा में रक्त आने लगता है, श्वास और नाड़ी की गति तेज होजाती है, शरीर में उष्णता और हृदय की धड़कन बढ़ जाती है उस समय कुछ देर के लिये पुरुष की बुद्धि नष्टसी होजाती है, वह अपने को संभाल नहीं सकता और यह अवस्था यदि अविलम्ब नहीं रुकती तो शुक्राशय भर कर शुक्रप्रणाली द्वारा शुक्र आगे पहुँचने लगता है यदि इस दशा में पुरुष अपने वीर्य निस्सरण को किसी प्रकार रोकता है तो वह सूख कर शुक्राश्मरी पैदा कर देता है । स्वप्नदोष वा अन्य किसी प्रकार से वीर्य निकलने पर आवश्यक है कि तुरन्त पेशाब करे ताकि मूत्रप्रणाली में शुक्र के बिन्दु जमकर मूत्राघातादि रोग न उत्पन्न करें ।

मानसिक विकारों के अतिरिक्त निम्न लिखित कारणों से भी स्वप्नदोष होजाता है ।

१—अत्युष्ण तीक्ष्ण अन्नपान, मद्य, तम्बाकू, चाय, काफ़ी तैल, मिर्च, खटाई, मसाले आदि उत्तेजक पदार्थों का सेवन करना, पौष्टिक और स्वादिष्ट पदार्थों का बहुतायत से सेवन कर किसी प्रकार का व्यायाम न करना ।

२—शिशन के अग्रचर्म के बहुत तंग होजाने से उसके अग्र भाग पर मैल जम कर खाज पैदा करता है जिससे

मनुष्य हाथ से मलते हैं और वीर्यकोष में एक प्रकार की गति पैदा हो स्वप्नदोष का कारण होती है।

३—मूत्रयंत्रों (वृक्) के विकार वा गुदा के ब्रण, भगन्द-रादि रोग वा गुदा में उत्पन्न हुए क्रमि शिश्नहर्ष का कारण बन स्वप्नदोष को उत्पन्न करते हैं।

४—शुक्राशय पर दबाव पड़ना, यदि निन्द्रावस्था में मूत्राशय भरा हुआ हो और पुरुष पीठ के भार सोवे तो मूत्राशय का सारा बोझ शुक्राशय पर पड़ कर क्षोभ उत्पन्न कर स्वप्नदोष का कारण बनता है।

५—यदि कब्ज हो तो गुदा के फूल जाने से शुक्राशय पर दबाव पड़ता है जिससे चिरस्थायी मलबद्ध हो स्वप्नदोष को उत्पन्न करता है।

६—तथा कोई निरन्तर तीव्र चिन्ता और मानसिक थकान भी स्वप्नदोष के हेतु हैं।

चिकित्सा ।

“संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्” इस आचार्योक्ति के अनुसार जिन २ कारणों से स्वप्नदोष उत्पन्न होता है उनको दूर किया जाना उसकी चिकित्सा है। ऊपर लिखा जा चुका है कि स्वप्नदोष अधिकतर मानसिकदोषों से ही होता है अतएव इसके निवारणार्थ मनःसंयम की विशेष आवश्यकता है। “मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधिभिः” मानसिक रोग ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधि द्वारा दूर

होते हैं। इसके अतिरिक्त निम्न लिखित उपायों का अवलम्बन किया जाय।

१—चिन्ता को परित्याग कर अपनी इच्छाशक्ति को प्रबल बनाना चाहिये। रात्रि को सोने से पहले बलपूर्वक प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि मेरे मनमें कोई दुष्टविचार नहीं आसकता; निम्नलिखित वेदमंत्रों को अर्थविचारपूर्वक उच्चारण करना चाहिये, स्मरण रहे कि बिना अर्थ समझे केवल मंत्र पढ़ने से लाभ नहीं होसकता।

अज्ञैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयस्।
जाग्रत्स्वप्नः संकल्पः पापीयं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु
योनो द्वेष्टितमृच्छतु ॥

अर्थात्—“परमात्मन्! हम सब निर्दोष बनें जिससे हम सब आज ही विजय प्राप्त कर सकें और उन्नत बनें। जो जागृति के समय अथवा स्वप्न में आनेवाला बुरा विचार है वह उसके पास चला जावे जिसका हम सब एक मत से द्वेष करते हैं या जो अकेला हम सबों से द्वेष करता है”।

यदाशसानिःशसाभिःशसो पारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः,
अग्निर्वश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारेऽस्मद्वधातु।

अर्थात्—“जागते तथा सोते हुए कुछ इच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक या पूर्ण इच्छापूर्वक जिन दुष्ट विचारों को मैंने किया हो अग्निदेव उन सब को मेरे मन से दूर हटाइये”

इस संकल्प के साथ यह विचार भी दृढ़ करना चाहिये कि जब कोई बुरा स्वप्न मुझे आये, मेरी नींद खुल जाय ।

ऐसी प्रार्थना से मन बलवान होता है क्योंकि ब्रह्म की उपासना से मन को बल प्राप्त होता है, मानसिक कुसंस्कार दूर होकर स्वाभिमान की जागृति होती है । अभ्यास से विदित होता है कि जब इस प्रकार का दृढ़ संकल्प कर रोगी अपनी इच्छाशक्ति को प्रबल बना लेता है तो किसी दुर्विचार का स्वप्न आते ही बिस्तर से उठकर सावधान होजाता है ।

(२) रात्रि को भरपेट भोजन न करो और जब भोजन पच जाय तबु शयन करो सोनेसे कुछ देर पहले जल न पियो जिससे मूत्राशय पर दबाव न पड़े रात्रि को जितनी बार आंग्र खुले उठकर पेशाब करो । *

(३) शिश्न के अग्रभाग पर जो मेल जम जाता है उसे नित्य जल से धोकर शुद्ध करते रहो, सोते समय १ सेर ठंडे जल से अंडकोष धोडालो धोते समय जल की धारा डालना चाहिये हाथ से न मसलें ।

(४) शुक्राशय के पीछे गुदा वा आंतों के भरे होने से शुक्राशय पर दबाव न पड़े इसके लिये आवश्यक है कि पीठ के भार न सोया जाय, यदि चित्त सोने की आदत पड़ गई हो और उससे नित्य स्वप्नदोष होजाता हो तो कोई कपड़ा बांध कर उसकी पीठ की ओर गांठ लगावें ताकि सीधा न सोया जाय इसके लिये एक प्रकार की पेटी भी बनती है

जिसको कसके सोने से मनुष्य सीधा नहीं सो सकता है, यदि फिर भी उपस्थ में चैतन्यता होजावे तो विद्वान वैद्यों ने एक प्रकार के छल्ले तैयार किये हैं जो सोते समय उपस्थ में डाले जाते हैं जब सोते समय चैतन्य होकर उपस्थ स्थूल होता है तब उन छल्लों के कांटे चुभने से मनुष्य की निद्रा खुल जाती है और वह स्वप्नदोष से बच जाता है ।

ब्राह्ममुहूर्त में जब आंख खुले तुरन्त उठकर पेशाब करो और फिर न सोओ, स्वप्नरहित निद्रा का लासकना स्वप्नदोष का सबसे बढ़िया उपाय है । मध्य रात्रि के समय जब प्रगाढ़ निद्रा आती है उस समय स्वप्न भी नहीं आते यदि कोई पुरुष उसी समय तक सोवे जब तक गाढ़ी नींद आती हो और नींद टूटजाने पर तुरन्त उठ बैठे तो उसे स्वप्नदोष का भय नहीं रहता । हम प्रायः यों ही बिस्तर पर लेट जाते हैं और पड़े २ करवटें बदला करते हैं चाहे नींद आवे या न आवे ऐसे ही समय में कामुकता के भाव उत्पन्न होते हैं ।

(५) चिन्ताग्रस्त रहने से भी स्वप्नदोष होजाना है और चिन्ता का स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है अतएव जिस अवस्था में रहो अपने को उत्साह और आनन्दयुक्त रखो जो युवक अपने को शुद्ध और खुली हवा में हास्ययुक्त रखेगा वह आरोग्य रहेगा और स्वप्नदोष से बच जायगा ।

(६) अजीर्ण से मन्दाग्नि होकर स्वप्नदोष का कारण बन जाती है उसके नाश करने के लिये सर्वोत्तम उपाय उपवास

है नियम पूर्वक उचित समय में उपवास करने से स्वप्नदोष दूर होजाता है, उपवास के समय भांति २ की मिठाइयों से पेट नहीं भरना चाहिये किन्तु निराहार रहने का नाम उपवास है। आवश्यकता पड़ने पर शुद्ध जल अथवा जल में नीबू का रस निचोड़ कर पीवें यदि ऐसा करने में अशक्य हों तो थोड़ा सा फलों का रस पीसकते हैं उपवास की समाप्ति पर दुग्ध अथवा सुपच लघु भोजन करें। ऐसा उपवास महीने में दो वा एकवार अवश्य करना चाहिये।

जलचिकित्सा ।

स्वप्नदोष के रोगी को शीतलजल के उपयोग से बहुत लाभ होता है। देखो अरोग्यता के नियम नं० ४४-४५। जलके भीतर ठंडे पानी में शिशन का अग्रभाग रखकर उसके आगे का चमड़ा थोड़ा खींचकर आहिस्ते २ दूसरे हाथ की उंगली से घर्षण करने से विशेष लाभ होता है पर स्मरण रहे कि घर्षण शिशन के अग्रचर्म ही पर किया जाय न कि स्नायु पर, इस प्रयोग के लिये बैठने का उचित प्रबन्ध करना चाहिये और यह क्रिया ऐसे ही सात्विक भाव से की जानी चाहिये जैसे कोई अपने कान नाक के मैल को धोडालता है अर्थात् मन में किसी प्रकार की कामोत्तेजना नहीं होनी चाहिये।

औषधिचिकित्सा ।

यदि स्वप्नदोष के रोगी को कब्ज हो तो निम्नलिखित औषधियों के सेवन से दूर करें। छोटी हर ५ माशा, सोंफ

३ माशा मिश्री ३ माशा इनको पीस दूधसे लेनी । सोते समय बड़ी हर का चूर्ण ३ माशा शहद १ तोला में मिला चाटें अथवा हड़ का मुरब्बा खावें । अथवा घृत में भुनी छोटी हर का चूर्ण ४ से ६ माशा तक सेंधव लवण के साथ खावें । वा १ तोला बनफ़शा ६ माशा फूल गुलाब मिला काथकर पीवें ।

स्वप्नदोष के लिये निम्न लिखित योग सरल और अनुभव-सिद्ध हुए हैं ।

१—गिलोय का सत २ तोले, सफेद मूसली ४ तोले, तालमखाना ६ तोले, मखाने की ठुरी ८ तोले, मिश्री १० तोले, सबको कूट पीस कपड़ छानकर छै २ माशे सायं प्रातः गोदुग्ध के साथ सेवन करने से १ मास में स्वप्नदोष दूर होगा ।

२—एक तोला बबूल के गोंद को आधपाव जल में रात्रि के समय भिगोदे प्रातःकाल मल छान २ तोला मिश्री मिला पीने से २ सप्ताह में स्वप्नदोष दूर होगा ।

३—छै माशे सूखे आंवलों के चूर्ण को मधुके साथ मिलाकर चाटें ऊपर से शकर मिला हुआ चावलों का मांड़ पीने से ३ सप्ताह में प्रमेह व स्वप्नदोष दूर होगा ।

४—बबूल के कोमल पत्ते और कोमल फलियों को सायामें सुखाकर चूर्ण करले फिर उसमें समभाग मिश्री मिला छै २ मासे प्रातः व सायंकाल तीन सप्ताह तक जलके साथ सेवन करने से लाभ होगा ।

५—कागज़ी बादाम की गिरी २, चीनी, ताज़ा गोघृत, सत-गिलोय तीन तीन माशे, मधु ६ माशे से मिला कर चाटने से १ सप्ताह में लाभ होगा ।

६—शतावर ५॥, तालमखाना ५॥, केशर ३ माशा, कोंचबीज ५॥ गुल्मरू ५॥, जायफल ३ माशा, मिश्री ५॥ (तीन पाव) इन सब को कूट पीस कपड़छन कर १ तोला सायं प्रातः गोदुग्ध से सेवन करें ।

७—हरे आंवले का रस १ तोला, शुद्ध शिलाजीत २ रत्ती, सतगिलोय १ तोला इनको मिला सब के बराबर मिश्री मिला ४० दिन सेवन करें ।

८ - बटका ताज़ा दूध १६ बूंद एक महीने तक बताशे में डाल कर नित्य प्रातःकाल सेवन करना ।

९—सफ़ेदमूसली, कबाबचीनी, सतगिलोय इन तीनों को समान भाग ले चूर्ण करें । इसकी ६ रत्ती मात्रा आंवले के भीगे पानी से वा हरे आंवले के रस से सेवन करें ।

१०—सफ़ेदमूसली १॥ माशा, जायफल ४ रत्ती, आंबला १॥ माशा इनको मिश्री व मक्खन में मिला कर खावें ।

११—प्रातःकाल १ वा २ पके केले शहद के साथ खाने से स्वप्नदोष दूर होता है ।

१२—चोबचीनी का चूर्ण १ तोला, मिश्री १ तोला, घृत १ तोला प्रातःकाल दुग्ध के साथ सेवन करें ।

१३—भूसी ईसबगोल १ तोला, सिंघाड़ा सूखा २ तोला, छुहारा ४ तोला, मिश्री ७ तोला लेकर चूर्ण बनावें एक तोला

नित्य प्रातःकाल पाच भर गोदुग्ध के साथ सेवन करने से २ सप्ताह में लाभ होगा ।

१४—“स्वप्ने शुक्रव्युतिर्नस्याद् यदि चाद्यात् सुगप्रियम्”
आयुर्वेद वि० । सोते समय १ माशे कबाबचीनी का चूर्ण
भाग सम मिश्री वा शहद के साथ सेवन करने से स्वप्नदोष
दूर होता है ।

१५—रसों में चन्द्रप्रभावटी, चन्द्रोदय, मकरध्वज,
(हल्दी सत गिलोय शहद के साथ चाट ऊपर से दूध
पीना) बंगेश्वर व बसन्तकुसुमाकर रस स्वप्नदोष की एक-
मात्र अच्छी औषधियाँ हैं । परन्तु रसादिक औषधियाँ प्रामा-
णिक और चतुर वैद्य की होनी चाहिये अन्यथा लाभ के स्थान
में हानि होने की सम्भावना है ।

औषधि सेवन में पथ्य से रहने का सदा ध्यान रक्खा जाय,
स्वप्नदोष के रोगी को गरम मसाला, लालमिर्च, खटाई तथा
गरिष्ठ और वादी वस्तुएं सेवन न करनी चाहिये । रोग का
ज्ञान होने पर लज्जा को छोड़ कर तुरन्त ही सहृदय और
अनुभवी वैद्य से निवेदन कर उपचार करना चाहिये ।



पाठ्यग्रंथों की सूची ।

- १—अथर्ववेद का ब्रह्मचर्यसूक्त
- २—सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास स्वा० दयानंद सरस्वती
- ३—ब्रह्मचर्य विज्ञान पं० जगन्नाारायणदेव शर्मा
- ४—ब्रह्मचर्य संदेश पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
- ५—स्वप्नदोष विद्यावाचस्पति पं० गणेशदत्त शर्मा
- ६—स्वप्नदोषाङ्क धन्वन्तरि विजयगुह
- ७—व्यावहारिक सभ्यता पं० गणेशदत्त शर्मा
- ८—हमारे शरीर की रचना डा० तिलोकीनाथ वर्मा
- ९—स्वास्थ्यरक्षा हरिदास वैद्य
- १०—अनीति के पथ पर महात्मागांधी
- ११—कांग्रेस चरितावली सूर्यकुमार वर्मा
- १२—भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास प्रो० रामदेव
- १३—भारतवर्ष का इतिहास स्व० लाला लाजपतराय
- १४—राज्य प्रबंध शिक्षा रामचंद्र शुक्ल
1. Help's series. Pro. Helps.
2. What a young man ought to know. S. Stall.
3. India what can teach us. Pro. Max Muller.
4. Students' Mannual. Jhon Todd.
5. Book of good manners. James A. Richard.
6. Hand book of scout master. S. N. C. America
7. Principles of psychology. James William.

कुमारकर्त्तव्य के विषय में कतिपय सम्मतियां

श्रीमान् पं० गिरीशचन्द्र शर्मा व्याकरणाचार्य काशी—

“कुमारकर्त्तव्यनामकपुस्तकं कुमारानां शिक्षाप्रदमतः
कुमारैरवश्यमेवावलोकनीयम्”

श्रीमान् पं० प्यारेलाल शर्मा शास्त्री प्रोफ़ेसर मेरठ कालिज—

“कुमारकर्त्तव्य पुस्तक बहुत योग्य ढंगपर लिखी गई है
कुमारों के पढ़ने योग्य है लेखक ने पक्षपात को बिल्कुल हृदय
से पृथक् कर दिया है”

श्रीयुत् पं० रामनारायण मिश्र B. A. हेडमास्टर हिन्दू
यूनिवर्सिटी हाईस्कूल काशी—

“कुमारकर्त्तव्य के रचयिता ने इस पुस्तक को बनाकर
बालकों का बड़ा उपकार किया है” इत्यादि

श्री रायबहादुर ठा० उमासिंह ज्येयरमैन शिक्षाबोर्ड इटावा—

भाषा भावुकता भरी, भाव अनूपम भव्य ।

भारत उद्धारक बनो, पढ़ कुमारकर्त्तव्य ॥

मान्यवर बाबू आर० बी० माथुर B. A., L. T., F. R.
A. S. हेडमास्टर सनातनधर्म हाईस्कूल इटावा

“I have gone through ‘Kumar Kartavya’,
a book specially written for our boys to put
them on the right track for improving both
their body and mind. E. T. C.”

पुस्तक मिलने का पता:—

मेनेजर पाठक साहित्यसदन, इटावा